भगवान महावीर के २५००वे निर्वाण महोत्सव के पावन प्रसंग पर

शान्ति मार्ग की पावन भावनायें

प्रवक्ता :

अध्यात्मवेदी वालब्रह्मचारी श्री प्रद्युम्न कुमार (एम०ए०)

श्री पार्श्वनाथ दि० जैन शान्ति निकेतन (उदासीनाश्रम)

ईसरी बाजार, जिला गिरीडीह (बिहार)

प्रकाशक :

दिगम्बर जैन समाज

रुड़की (सहारनपुर) उ०प्र०

[१९७५]

प्राप्ति स्थान :

श्री दि० जैन शान्ति निकेतन (उदासीनाश्रम)

ईसरी बाजार [गिरीडीह] विहार

तथा

दिगम्बर जैन समाज, रुड़की [सहारनपुर]

प्रथम संस्करण १००० प्रतियां

वीर निर्वाण सम्वत् २५०१

प्रकाशकीय

इस वर्ष रुड़की समाज का भाग जागा जो हमें प्रबुद्धसंत पूज्य बाल ब्रह्मचारी श्री प्रद्युम्न कुमार जी एम०एम० के चातुर्मासिक प्रवास का सानिध्य प्राप्त हुआ। आपने अपने इस पावन प्रवास के भाद्रपद मास में तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारणभूत "सोलह कारण भावनाओं" पर प्रवचन दिये। प्रथम 'दर्शन विशुद्धि' व द्वितीय 'विनय सम्पन्नता' नामक दो पवित्र भावनाओं के प्रवचन गत कैराना चातुर्मास में प्रकाशित हुये थे। अतः अब इस 'शान्ति मार्ग की पावन भावनायें' नामक प्रस्तुत कृति में शेष १४ भावनाओं के प्रवचनों का संकलन किया है। उनके नाम हैं—शील व्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्ति प्रमाण त्याग, शक्ति प्रमाण तप, साधू समाधि, वैय्यावृत्य, अरहंत भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यकापरिहाणि, सन्मार्ग प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य।

पू० ब्रह्मचारी जी की यह वह कृति है जिसको पढ़ने से ही आपकी उत्कर्षशील आत्म साधना और विद्वत्ता का अनुमान हो जायेगा। आपने उक्त सभी पावन भावनाओं का विवेचन निश्चय और व्यवहार नयात्मक दोनों पद्धति से किया है। विवेचन सरल रोचक और सार-गर्भित हैं, पाठक प्रवचनों को पढ़कर कुछ समय के लिये अपूर्व शान्ति का पात्र बन जाता है, यदि वह तदनुसार अपना जीवन बनाये तो नियम से शाश्वत शान्ति मार्ग का पथिक बनकर स्व पर कल्याण करेगा।

आत्म हितैषी मानव के लिये वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रों का ज्ञान होना कल्याणकारी है। अतः उनके लाभार्थ एवं समाज के सभी वर्गों में स्वाध्याय की रुचि बढ़े, इस अभिप्राय से पू० ब्रह्मचारी जी ने यहाँ एक शिक्षण शिविर भी चलाया जिसके अन्तर्गत शताधिक बालक बालिकाओं एवं प्रौढ़ स्त्री पुरुषों ने छःढाला व अन्य तात्विक विषयों का अध्ययन किया।

ऐसे आयोजन समाज में सर्वत्र हों व लोगों के हृदय में जिनवाणी के स्वाध्याय की अभिरुचि जागृत हो, ऐसी शुभ भावना के साथ हमें आशा है कि प्रस्तुत प्रकाशन से सभी विचार शील पाठक स्वयं तो लाभ उठायेंगे ही, साथ ही साथ इसका व्यापक प्रचार व प्रसार भी करेंगे।

सकल दिगम्बर जैन समाज
रुड़की (सहारनपुर)

जीवन परिचय गीत [धुन-मेरी भावना]

महान आत्मा त्यागी जीवन की, मैं कथा सुनाता हूँ ।
बाल ब्रह्मचारी प्रद्युम्न से, परिचित तुम्हें कराता हूँ ॥१॥
आश्विन कृष्णा पन्द्रस, सवंत् दो हजार को जन्म लिया ।
ग्राम टिकरिया जिला हमीरपुर, फिर हरपालपुर वास किया ॥२॥
जैन समाज का दिव्य उजेला, आया था जिस पुण्य घड़ी ।
छाया था उल्लास गगन में, सुनकर के यह दिव्य घड़ी ॥३॥
धर्मनिष्ठ परिवार को पाया, सुख सुविधा सब पायी थी ।
अल्प आयु में छोड़कर घर को, वैराग्य भावना भायी थी ॥४॥
प्यारे लाल पिता श्री इनके, माता कस्तूरी बाई ।
तेजस्वी इस जीव को पाकर, मन ही मन में हर्षायी ॥५॥
बचपन से एकान्त में रहना, शान्त प्रकृति के धारी थे ।
जिन मन्दिर में रोज पहुंचकर, आतम चिन्तन करते थे ॥६॥
दर्शन शास्त्र में बी० ए० शिक्षा, इंगलिश में एम० ए० किया ।
बच्चों के अध्यापन काल में, नैतिकता पर जोर दिया ॥७॥
विषय कषाय भोगों का चक्कर, कारण है यह विवाह बंधन ।
होती रहती पल-पल क्रिया, निजातम चिन्तन और मनन ॥८॥
आगरा नगरी में सन् त्रेसठ, भाई बन्धु और सभी के बीच ।
पूज्य गुरु 'सहजानंद' जी से, ली शिक्षा-दीक्षा भी ठीक ॥९॥
शान्ति निकेतन ईसरी में, तप साधन चिन्तन के द्वारा ।
विद्वानों के जीते मन, और उपाधिष्ठाता स्वीकारा ॥१०॥
स्व-पर के कल्याण हेतु, 'जिन' धर्म का श्रद्धान किया ।
नाना शहरों में जाकर के, उपदेशों का सार दिया ॥११॥
चातुर्मास के शुभ अवसर पर, शिक्षण शिविर चलाते हैं ।
जन-जन को सन्मार्ग सुझाकर, शान्ति मार्ग समझाते हैं ॥१२॥
सदाचरण संयममय जीवन, ही सबको सुखदायी है ।
इसीलिये योग्य नियम प्रतिज्ञा, जगह-जगह दिलवायी है ॥१३॥
अपनी आतम साधना से है, पाँच ग्रन्थ को रचित किया ।
सरल सुबोध आकर्षक शैली, से सबका मन हरण किया ॥१४॥
प्रबुद्ध सन्त और शान्ति मूर्ति को देख 'संजय' हर्षाता है ।
भक्ति में इनकी रम करके, तन मन अर्पण करता है ॥१५॥

卐 *श्री महावीराय नमः* 卐

शान्ति मार्ग की पावन भावनायें

अज्ञानतिमिरान्धानाँ ज्ञानाञ्जन शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।१।
मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगल कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ।२।
नमः श्री वर्द्धमानाय निर्द्धूत कलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्यादर्पणायते ।३।

शील व्रतेष्वनतिचार

तीर्थंकर प्रकृति के बंधकी कारणभूत सोलह कारण भावनाओं में से प्रथम दो भावनाओं की चर्चा पुस्तक के प्रथम भाग में कर चुके हैं वे भावनायें हैं 'दर्शन विशुद्धि' और 'विनय सम्पन्नता'। अब तीसरी पावन भावना है शीलव्रतेष्वनतिचार। उसका वर्णन किया जा रहा है।

शील बहुत व्यापक शब्द है 'अमुक व्यक्ति शील स्वभावी है' यह कह-कर यह बताना होता है कि अमुक व्यक्ति में अनेक गुणों का समावेश है। अर्थात् वह सच बोलता है, किसी को नहीं सताता, चोरी से दूर है, ब्रह्मचारी है अपरिग्रही है, इत्यादि। यानि अहिंसादिक व्रतों में यत्नशील होना और उन व्रतों को पालने के अर्थ कषायों के त्याग कर देने रूप शीलों में जो निर्दोषता रूप आचरण है उसको कहते हैं—शीलव्रतेष्वनतिचार। मोक्षमार्गी जीव की ऐसी उत्तम प्रवृत्ति होती है कि वह ग्रहण किये व्रतों में कोई दोष नहीं लगाता और उत्तरोत्तर उसका यत्न और भावना ऐसी बनती है कि व्रत वृद्धि को प्राप्त होते रहें।

स्वानुभव के अर्थ, आत्मकल्याण के अर्थ शील और व्रतों में दोष न लगाना ऐसा यत्न करना आवश्यक है। स्वानुभूति के लिये कषायों का

यथार्थ ज्ञान हो जाना तो आवश्यक है ही लेकिन वास्तविक चारित्र का होना भी स्वानुभूति में कारण है। जब तक यह आत्मा यथार्थ परिज्ञान नहीं करता तब तक स्वानुभूति प्रगट नहीं होती। विचार करो कि जो उपयोग पापों में लगे, दुर्भाव में रहे क्या ऐसा मलिन उपयोग अपने ब्रह्म स्वरूप का अनुभव कर सकता है? कभी नहीं, उसमें ऐसी सामर्थ्य ही नहीं। अपने ब्रह्म स्वरूप के अनुभव करने के लिये तो उपयोग की बड़ी सावधानी की जरूरत है।

शील कहते हैं आत्मा के स्वभाव को। आत्मा का निज सहज स्वभाव है ज्ञानानन्द मात्र। इस ज्ञानानन्द मात्र आत्म स्वभाव का विघात करने वाले हिंसादिक ५ पाप हैं, उन ५ पापों में कुशील नाम का पाप, काम सेवन की वासना का पाप प्रधान है क्योंकि यह कुशील नाम का ही पाप समस्त पापों को पुष्ट करता है और क्रोधादिक कषायों की तीव्रता में कारण है। यद्यपि जितने भी पाप हैं दुर्भाव हैं कषाय हैं, वे सभी आत्म स्वभाव के विकास में बाधक हैं परन्तु कुशील पाप की वासना या उसका संस्कार अधिक खोटा बन जाता है। इस कुशील पाप की वासना में लोभ कषाय की प्रबलता रहती है लोभ कषाय से सम्बन्धित अन्य कषायें भी सजग हो उठती हैं इसमें भी स्पर्शन इन्द्रिय के विषय के लोभ की साधना की वासना प्रधान है जो वासना मूल से आत्म स्वभाव की घातक है। देखो जैसे क्रोध आया, तत्समय अपने को न संभाल सके, कुछ क्रोध रूप परिणति हो गयी परन्तु वह क्रोध अपने आप में गांठ बाँधकर नहीं रह पाता कि रात दिन उसका संस्कार बना रहे। वह क्रोध तो जिस किसी समय हुआ, बस शान्त हो गया वह उसी समय। इसी प्रकार मान कषाय की वृत्ति उठी, उठ गई परन्तु उसकी निरन्तर वासना बनी रहे ऐसा कुछ कम होता है पर इस लोभ कषाय की, स्पर्शन इन्द्रिय के विषय साधन की वासना निरन्तर और दीर्घ काल तक रहने के कारण आत्म स्वभाव का मूल से बिगाड़ करती है। इस वासना में आत्म स्वभाव की ओर दृष्टि देने का अवसर ही नहीं रहता। इसी कारण इस शीलव्रतेष्वनतिचार नाम की भावना में ब्रह्मचर्य व्रत की प्रधानता है। अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुष अपने शील में, व्रतों में निर्दोष आचरण करता है और समस्त पापों को नष्ट करने में समर्थ होता है।

शील अथवा ब्रह्मचर्य के पालन से यह जीव सुखी और सम्पन्न बनता है, वह समस्त दुर्गति के दुःखों से छूट जाता है और उसे शुभगति की प्राप्ति होती है। शील के पालन से ही सभी धार्मिक अनुष्ठानों की सार्थ-

कता है। शील हो तो सभी तप व्रत संयम आदि जीवित रहते हैं। जैसे कि कोई पुरुष वेश्यागामी हो, परस्त्री लम्पटी हो, विषय लोलुपी हो, मन उसका विकारी रहता हो और वह पूजन, अभिषेक स्वाध्याय आदिक कार्यों में लगाव दिखावे तो पहिचानने वाले जानते ही हैं कि इसकी ये सब बातें ढोंग भरी हैं। वासना तो काम विषयक निरन्तर इसके बनी रहती है। शील यदि नहीं है, तो तप करना व्रत धारण करना, नियम पालन करना ये सब व्यर्थ हैं। जैसे जब जान नहीं रही तो शरीर मृतक है, वह केवल दिखने भर की बात है कार्यकारी नहीं हैं। ऐसे ही जो शक्ति रहित है, काम सेवन का लम्पटी है ऐसा पुरुष बाह्य तप व्रत संयम भी पालन करे तो भी वह मृतक के समान दीखने भर का हो जाता है। वह कार्यकारी नहीं है बल्कि धर्म की निन्दा कराने वाला है। ज्ञानी, विवेकी पुरुष इस शील नामक धर्म का दृढ़ता से पालन करते हैं वे अपने इस चंचल मन पक्षी को स्वच्छंद नहीं विचरने देते, उसका दमन करते हैं और अतिचार रहित शुद्ध शील का पालन करते हैं।

सील (Seal) से ही हर बात का मूल्यांकन होता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति शीलवान है शील का दृढ़ता से पालन करते हैं तो उसके शील का सर्वत्र आदर और मान होता है। जो शीलवंत पुरुष हैं उन्हें इन्द्र भी नमस्कार करते हैं। शीलवान पुरुष में ही सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शोभा को प्राप्त होते हैं वह रत्नत्रय का साधन कर निर्वाण को प्राप्त करता है इसीलिये कहा है—

शील रतन सबसे बड़ा सब रतनन की खान।
तीन लोक की सम्पदा बसी शील में आन॥

सारी बात अपने इस बिगड़े हुये मन को सम्हालने की ही तो है, यह मन बड़ा उद्दण्ड है अनादि के विषयों के संस्कार इस पर जमे हुये हैं जिससे यह बार-बार कुशील भावों की ओर जाता है। जैसे कोई मदमस्त हाथी खूटे को तोड़कर बाहर भाग जाता है ऐसे ही यह मन काम वासना से उन्मत्त होकर स्वच्छंद हो जाता है अपने स्वरूप स्थान से विचलित हो जाता है तब महा अनर्थ उत्पन्न करता है और पापों का कारण बन जाता है। समता परिणाम से च्युत होकर नाना प्रकार के विषम और मलीन भावों में दुःख उठाता फिरता है। काम वासना से पीड़ित पुरुष अपने शील को भंगकर कुल की मर्यादा को भी छोड़ देता है, [illegible]

उसके हृदय में कभी पनप ही नहीं पाती। वह निरन्तर क्षुब्ध रहता हुआ दुःख ही भोगता है। कामी मन को कविजनों ने मदोन्मत्त हाथी की उपमा दी है जैसे मदोन्मत्त हाथी बरबादी पर उतारू रहता है इसी प्रकार यह मन भी इस जीव की बरबादी पर उतारू रहता है जैसे हाथी के कान अत्यन्त चंचल होते हैं, स्थिरता से रह ही नहीं सकते यों ही कामी मन वाले की इन्द्रियां अत्यन्त चंचल होती हैं यह मन भी उन इन्द्रियों के विषयों के भोगने में चंचल बना रहता है। उसकी बुद्धि बिगड़ जाती है विवेक उसे किंचित मात्र भी नहीं रहता। जैसे हाथी हथिनियों में रमा करता है। ऐसे ही वह कामी पुरुष कुबुद्धि में रमा करता है। कामी मन वाला व्यक्ति समस्त गुणों से छूटकर अवगुणी बन जाता है उसके समीप कोई गुण नहीं पहुंच सकता। जैसे मदोन्मत्त हाथी सांकल को तोड़कर भाग जाता है ऐसे ही यह मन सुबुद्धि की शृङ्खला को तोड़कर भाग जाता है। कहते हैं न "कामी जाने न जाति कुजाति"। जो स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में लम्पट पुरुष हैं उन्हें कुछ सुध नहीं रहती है ऐसे बेसुध पुरुष के पास कौन गुण आकर रहेगा? कोई नहीं रह सकता। तभी तो क्षत्रचूड़ामणि में श्री वादीभसिंह सूरि ने कहा है कि:—

विषयासक्त चित्तानां, गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥

अर्थात् जो मनुष्य विषय भोग में आसक्त हो जाता है उसके प्रायः सभी गुणों की इति श्री हो जाती है। अर्थात् ऐसे मनुष्यों में विद्वत्ता, मनुष्यता, कुलीनता और सत्यता आदि एक भी गुण नहीं रहता।

और भी कहा है—

पराराधनजाद् दैन्यात्, पैशुन्यात् परिवादतः।
पराभवाकिमन्येभ्यो, न बिभेति हि कामुकः॥

अर्थात् कामी पुरुष काम के कारण होने वाली अपनी दीनता, चुगली, बदनामी और अपमान आदि की परवाह भी नहीं करता।

इतना ही नहीं और भी देखो—

पाकं त्यागं विवेकं च, वैभवं मानितामपि।
कामार्ताः खलु मुञ्चन्ति, किमन्यैः स्वञ्च जीवितम्॥

अर्थात् कामासक्त प्राणी भोजन, दान, विवेक, धन दौलत और बड़प्पन आदि का जरा भी ख्याल नहीं करते। और की बात क्या भोग विलास के पीछे वे अपनी जान पर भी पानी फेर देते हैं।

विचार करो कि इस व्यर्थ के विषय प्रसंग में जीव को क्या मिलता है ? कुछ भी तो नहीं बलिक सब कुछ गंवा देने की ही बात है शील के विरुद्ध चलने में हानि ही हानि है। देखो न प्रथम तो वह अपना आत्मबल और शरीर बल समाप्त करता है और फिर यदि काम के विषय साधन मिल गये तो उनके भोगने में कुछ शान्ति और संतोष तो नहीं मिलता है। अनेक अनर्थ शील के भंग करने में है। इसलिये काम से व्याप्त, यत्र तत्र विचरण करने वाला जो मन उसको वश करने में ही अपना हित है। कुबुद्धि को हटाकर ज्ञान और वैराग्य में अपने को लगाकर ब्रह्मचर्य का पालन करें इससे ही जीवन का कल्याण है। जो ब्रह्मचर्य समस्त विषयों के आताप को दूर करने में समर्थ और स्वर्ग व मोक्ष के फल को देने वाला है ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्य की रक्षा करो।

लोक में कहावत है कि जो लंगोट का सच्चा हो और हाथ का पक्का हो उसे कहीं कोई विपत्ति नहीं आ सकती। वह सबके आदर और सम्मान का पात्र होकर मोक्षमार्ग में प्रगति करता है। अतः ब्रह्मचर्य अर्थात् शील ही जीवों के कल्याण का मूल कारण है ऐसा जानकर मन वचन और काय से ब्रह्मचर्य के पालन में अपना चित्त दो।

ज्ञानी निकट भव्य जीव शील अर्थात् ब्रह्मचर्य को निर्दोष पालने की भावना में रहता है। ब्रह्म कहते हैं आत्मा को और चर्य माने चलना, रमण करना अर्थात् अपने ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्म में रमण करना सो ब्रह्मचर्य है। इस स्वभाव से विचलित न होना सो ही परम शील व्रत है। आत्म स्वभाव से अतिरिक्त सभी पर पदार्थ और परभाव से रमणता का भाव छूटे और समस्त प्रकार की विषय वासनाओं से निर्मुक्त होकर आत्म स्वभाव में ही तल्लीनता बने सो ही शील व्रत है। इस शील अर्थात् ब्रह्म-चर्य में बाधक वैसे तो सभी पाप हैं परन्तु कुशील पाप की इसमें मुख्यता है। देखो स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है स्पर्श, रसना इन्द्रिय का विषय है रस, घ्राण इन्द्रिय का विषय है गन्ध, चक्षु इन्द्रिय का विषय है रूपा-वलोकन और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है रागरागनी के शब्द श्रवण

आदि। पर इन पांचों में जो स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श है, काम भाव है उसको अलग से पापों में कुशील नाम से गिनाया गया है। यह कुशील सेवन एक बड़ा ही मलिन परिणाम है। कुशील नाम का पाप ब्रह्मचर्य की पात्रता को भी न रहने देने वाला एक विरोधी भाव है। जैसे अन्य विषयों के भोगते हुये में तो आत्मा की खबर कदाचित् रह सकती है, भोजन कर रहे हैं तब आत्मा की विवेकी जन खबर रख सकते हैं, अन्य समयों में भी खबर रख सकते हैं, कानों से सुन रहे हैं गीत संगीत, वहाँ भी इस आत्मा की खबर रख सकते हैं, कोई आध्यात्मिक भजन हो, धार्मिक संगीत हो तो उसके माध्यम से तो बहुत कुछ खबर रखी भी जाती है किन्तु स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में, काम भोग में तो इस आत्मा की खबर रहने की पात्रता नहीं हो सकती है इस कारण कुशील शब्द से शारीरिक व अध्यात्मिक ब्रह्मचर्य के घात की प्रसिद्धी है तत्सम्बन्धी दुर्भावनाओं की प्रसिद्धि है। अतः कुशील से बचने के लिये स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना चाहिये। मन को वश करना चाहिये। मन के वशीकरण का सीधा ही तो उपाय है कि वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानें और निजस्वभाव की सतत भावना करें। यह मन इस स्पर्शन इन्द्रिय के विषय की ओर लगाव क्यों रखता है कि इस अज्ञानी जीव की इस शरीर में ऐसी बुद्धि बनी हुई है कि यह शरीर सुन्दर है। इस शरीर के स्वरूप का विचार तो करो— यह तो महाअपवित्र है, मलमूत्र आदि महागंदी चीजों से भरा हुआ है मांस मज्जा खून पीव आदि ७ धातु उपधातुओं से निर्मित है—तभी तो कहा है न कि—

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितें मैली।
नवद्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी॥

अर्थात् जो मांस रक्त पीव और विष्ठा की थैली है हड्डी चर्बी आदि से अपवित्र है और जिसमें ग्लानि उत्पन्न करने वाले नौ दरवाजे बहते हैं ऐसे शरीर में प्रेम-राग कैसे किया जा सकता है?

एक घटना है। एक राजपुत्र अपने नगर में घूम रहा था। उसे एक सेठ की बहू नजर में आयी। उस बहू की सुन्दरता को देखकर वह राजपुत्र मोहित हो गया। अपने महल में आकर उदास चित्त होकर वह पड़ गया। बहुत-बहुत पूछा जाने पर आखिर एक दूती को बता दिया। तो

दूती बोली कि यह बात तो बिलकुल आसान है, तुम क्यों उदास हो? दूती पहुची सेठ की बहू के पास। बोली कि अब तुम्हारा भाग्य जग गया है, तुम पर राजपुत्र मोहित है। बहुत बातें होने के बाद सेठ की बहू ने कहा। अच्छा १५ दिन के बाद अमुक दिन अमुक तिथि को राजपुत्र हमारे घर आये। उतने दिनों में सेठ की बहू ने उधर क्या किया कि जुलाब की गोलियाँ खा लीं, जिससे कै-दस्त बहुत होने लगे। सारे कै-दस्त को एक मटके में भरती गई। जब मटका भर गया तो उसे रेशमी कपड़े से अच्छी तरह सजाकर ढाँक दिया। वह बहू तो अब अत्यन्त दुबली पतली कमजोर हड्डी निकली फीके चेहरे की हो गई। राजपुत्र जब १५ दिन के बाद में आया तो वह चकित सा रह गया। बहू कहती है कि राज पुत्र! मैं ही वह सेठ की बहू हूँ मेरी जिस सुन्दरता पर आप मोहित थे, चलो उस सुन्दरता को दिखायें। राजपुत्र जब उस मटके का कपड़ा उठाकर देखता है तो उससे बड़ी दुर्गन्ध निकलती है उसे देखकर राजपु भागा। तो यह शरीर ऊपर से तो मक्खी के पंख समान पतली चमड़ी से मढ़ा हुआ है इसलिये बाहर से सुन्दर लगता है किन्तु यदि उसकी भीतरी हालत का विचार किया जाये तो उसमें अपवित्र वस्तुयें भरी हैं, इसलिये उसमें ममत्व अहंकार या राग करना व्यर्थ है। ज्ञानी जीव इस शरीर के स्वरूप का ज्ञान करके भेद ज्ञान द्वारा अपने अविनाशी निज पवित्र आत्म पद में रुचि करता है शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुचिमय है और यह भगवान आत्मा निज स्वभाव से ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है परमब्रह्म है ज्ञानी शरीर की पौद्‌गलिक क्षणिक और अशुचि सूरतों पर न रीझकर, उन पर आसक्त न होकर अपने अनुपम सुन्दर अविनाशी अमूर्तिक ब्रह्मस्वरूप से प्रीति करता है। उसी को निरखना, उसी में चर्या करना ज्ञानी शीलवन्तों का प्रोग्राम रहता है।

अज्ञानी जिन सूरतों में प्रीति के परिणाम बनाकर अपने परिणाम मलिन रखता है वे सूरतें तो बाहर से देखने मात्र ही चिकनी चौपड़ी सुन्दर हैं उनके ऊपर जो पतली चाम की चादर मढ़ी हुई है उससे उनकी सारी अपवित्रता ढकी हुई है वस्तुतः तो यह शरीर अति घिनावना है, महा अपावन वस्तुओं का घर है जैसा पढ़ते हैं न कि—

दिपै चाम चादर मढ़ी हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में और नहिं घिन गेह॥

ऐसे शरीर में प्रीति करना, ममत्व करना, स्नेह करना यह तो एक बिल्कुल व्यर्थ की बात है। आचार्य देव ने कहा है कि जैसे सूअर विष्टा का सेवन करने से घृणा नहीं करता इसी प्रकार यह संसारी विषयाभिलाषी प्राणी भी इस विषय सेवन को करते हुये ग्लानि नहीं करता। तो इस असार अशुचि काम भाव पर विजय प्राप्त करके शील व्रत का निरतिचार पालन करने में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है।

इस काम को क्या बतायें ? इसके जितने नाम हैं उन सब नामों से भी शिक्षा मिलती है। इस काम को अनङ्ग कहते हैं अर्थात् इसके कोई शरीर नहीं है, अंग रहित है न ही इसके कोई शरीर के अवयव ही हैं फिर भी यह तो मनसिज है, मन में इसका जन्म हो जाता है। जैसे भूख प्यास की वेदनायें नियमित हैं वैसी ये नहीं है यह तो मनसिज है जब मन में कल्पना जगी कि काम वेदना जागृत हो जाती है। कायर पुरुषों में काम वेदना विशेष हुआ करती है वीरों में नहीं। ठंडी, गरमी, भूख प्यास इनका तो कुछ अनुमान हो जाता है, कुछ युक्तियाँ चल जाती हैं, कुछ भविष्य के आसार भी नजर आ जाते हैं पर इस काम वासना में तो कुछ भी अंदाज नहीं हो पाता, बस मन में बात आयी कि उद्दंडता शुरू हो गई इसीलिये यह मनसिज है, इसका मन में ही जन्म है। अतः जिसका न अङ्ग है और न रंग ढङ्ग है उसका क्या पल्ला पकड़ना। इस काम का नाम मन्मथ भी है जो मन को ज्ञान को, मंथन करने वाला है उसे मन्मथ कहते हैं जिसका हृदय काम की वासना से व्यथित है ऐसे पुरुष को शान्ति का आधार कैसे मिल सकता है ? इसका नाम संवरारि भी है, संवर का अरि अर्थात् मोक्ष मार्ग का दुश्मन, आत्म हित का शत्रु। जिस समय स्पर्शन इन्द्रिय की अभिलाषा जगती है उस काल में इस जीव की बड़ी दयनीय दशा हो जाती है—वहाँ हित, संवर, अनाकुलता कैसे प्राप्त हो ? इसका नाम कंदर्प भी है काम के कारण खोटा जो दर्प होता है घमंड आ जाता है वही तो कंदर्प है। काम को मार भी कहते हैं क्योंकि इस काम के कारण तिर्यन्च तिर्यन्च परस्पर लड़कर मर जाते हैं और तिर्यन्च ही क्या मनुष्य-मनुष्य भी मर जाते हैं देखो न काम को विषयभूत जो स्त्री उस पर से कितने ही युद्ध हुये और हजारों मनुष्यों का मरण हुआ। किस बात पर मर गये ? न कुछ बात पर मूढ़ता की बात पर, बेवकूफी की बात पर, अहित की बात पर। विषयों के जो लम्पटी पुरुष हैं विषय साधनों में जो रूचि रखते हैं उनकी कहीं भी इज्जत नहीं, कहीं पैठ नहीं। एक सुई एक साथ दोनों ओर से सीने का काम नहीं कर सकती तथा एक

राहगीर एक साथ पूरब और पश्चिम दिशा को नहीं चल सकता, इसी प्रकार जो खोटे विचार रखते हैं, कामवासना से सहित हैं उन्हें कभी भी आत्मीय आनन्द नहीं मिल सकता। उन्हें न इस लोक का आनन्द है और न परलोक का और न ही मुक्ति का।

और भी देखो कामुक भाव कितना दोषपूर्ण है कि कामाङ्गों के अतिरिक्त अन्य सभी इन्द्रियों को जो प्रगट रूप से दीखती हैं उन्हें कोई भी छिपाने की चेष्टा नहीं करता हालाँकि वे भिन्न-२ अपने-२ प्रति नियत विषयों के साधन में कारण पड़ती हैं, जैसे कि आँखों से देखते हैं तो उन आंखों को ढकने का कोई यत्न नहीं करता, न उसमें कोई बुरा मानता, सबके सामने देखने में कोई भय की बात नहीं हैं लोक व्यवहार में आंखों को देखने में लाज नहीं आती है, नाक के देखने में लाज नहीं आती, मुंह तो बिल्कुल सामने ही रहता है इसके देखने में लाज नहीं आती और कान तो सदा एक रूप से अड़े हुये खड़े हैं इनके देखने में भी लाज नहीं आती किन्तु काम के साधक जो अंग हैं उनके देखने की बात तो दूर रही, उनके नाम बोलने में, सुनने में ही लाज आती है। तो इससे ही यह जाहिर होता है कि काम की साधना कितनी दोषपूर्ण और घृणित चीज है। काम के समान और कोई अन्य पाप नहीं हैं, धर्म से भ्रष्ट करने वाला एक यह काम ही है। गुरुवों के शिक्षादायक वचनों का उल्लंघन करके यह कामी मन रूपी हस्ती ब्रह्मचर्य रूपी वृक्ष को उखाड़ कर फेंक देता है। और तो जाने दो जिसका कामी मन है वह सन्मार्ग में चलने वाले ज्ञानी को भी बरबाद कर देता है। काम को सर्व दोषों का मूल जानकर ही, इसको त्याग करके शील को निरतिचार पालने में ही ज्ञानी पुरुष की भावना रहती है।

शील की महिमा तो जगत प्रसिद्ध है ही, शील से ही स्त्री पुरुषों का जीवन स्तर ऊंचा उठ जाता है। यह शील का ही तो प्रभाव था जैसा पढ़ते हैं कि "सीता प्रति कमल रचाओ, द्रोपदी को चीर बढ़ाओ", और "सूली तैं सिंहासन कीना" आदि। यानि—सीता का अग्निकुंड से कमलयुत जलकुंड बन गया और द्रोपदी का चीर बढ़ता गया, सेठ सुदर्शन का शूली से सिंहासन हो गया आदि। इस शीलव्रतेष्वनतिचार भावना में पंच बालयति तीर्थंकरों (श्री वासु पूज्य, मल्लिनेम पारसवीर अती, नमूं मन वचन तन प्रेम पांचों बालव्रती) की बात विशेष रूप से याद करो। कुलभूषण देशभूषण को भी याद करो। शील से ही सबका जीवन पवित्र बना है।

शीलव्रत के परिपालन के लिये मन वचन काय से स्त्रियों में राग का त्याग करना आवश्यक है। कुशील के मार्ग में न तो स्वयं चले, न दूसरों को चलने का उपदेश दे और न कुशील के मार्ग में चलने वालों की अनुमोदना करे। बालिका स्त्री को पुत्रीवत और रूपवती युवती स्त्री में बहिनवत बुद्धि रखना चाहिये। शीलवान पुरुषों को स्त्रियों का दान सन्मान करना भी योग्य नहीं है। स्त्रियों के साथ वचनालाप करना, उनके अंगों का अवलोकन करना आदि सब बातें शील को बिगाड़ने में कारण हैं। शीलवंत पुरुषों की दृष्टि स्त्रियों को देखते ही मुद्रित हो जाती है, शीलवान ग्रहस्थ पुरुष एक अपनी स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों की संगति, उनका अवलोकन, वचनालाप का परिहार कर अन्य स्त्रियों की काया का स्वप्न में भी विचार नहीं करता है यहाँ तक कि एकान्त में माता बहिन पुत्री की संगति भी नहीं करता। और मुनीश्वरों की बात तो विलक्षण ही है वे तो समस्त स्त्री मात्र का सम्बन्ध ही नहीं करते। अकेली स्त्रियों में उपदेश भी नहीं करते। देखो स्त्री वाचक जितने नाम हैं वे नाम ही उनके दोषों को प्रगट करते हैं।

नारी—स्त्री समान इस जीव को नष्ट करने वाला अन्य कोई अरि याने वैरी नहीं इसीलिये इसका नाम नारी है।

स्त्री—दोषों को प्रत्यक्ष देखते-देखते आच्छादन करे इसलिये इसका नाम स्त्री है।

पत्नी—इसको देखने से पुरुष का पतन हो जाता है इसलिये इसका नाम पत्नी है।

कुमारी—यह कुमरण करने का कारण है इसलिये इसका नाम कुमारी है।

अबला—स्त्री की संगति से पौरुष, बुद्धि बलादिक नष्ट हो जाते हैं यानि यह बलहीन बनाने में कारण है इसलिये इसका नाम अबला है।

वधू—स्त्री संसार के बंध का कारण है इसलिये इसे वधू कहते हैं।

वामा—कुटिलता, मायाचार का स्वभाव धारने के कारण इसका नाम वामा है।

वामलोचना—इसके नेत्रों में कुटिलता वास करे है इसलिये इसे वाम-लोचना कहते हैं।

नीतिकारों ने कहा भी है—

मदमात्सर्यमायेर्ष्या - रागरोषादिभूषिताः।
असत्याशुद्धि कौटिल्य-शाठ्यमौढ्यधनाः स्त्रियः॥

अर्थात् स्त्रियों में घमंड, डाह, कपट, द्वेष, मोह, क्रोध, झूठ, अपवित्रता, कुटिलता और मूर्खता ये बातें स्वाभाविक होती हैं।

ऐसा जानकर स्त्रियों से राग नहीं करना चाहिये। जैसा कि कहा है–

निर्घृणे निर्दये क्रूरे, निर्व्यवस्थे निरंकुशे।
पापे पापनिमित्ते च, कलत्रे ते कुतः स्पृहा॥

अर्थात् घृणा रहित, दया रहित, दुष्ट, व्यवस्था रहित, स्वतंत्र, पापरूप और पाप की कारण स्त्री के विषय में प्रेम विश्वास या चाह नहीं करना चाहिये। उनमें विश्वास करने से किसी का कुछ भी वास्तविक लाभ नहीं हुआ।

जो स्त्रियों में रागी नहीं होते ऐसे शीलवान पुरुष का सभी जगह आदर होता है। कोई शील सम्पदा से भूषित हो और भले ही वह रूप से रहित हो, रोगग्रस्त हो तो भी वह अपने वातावरण से, अपने संसर्ग से समस्त पुरुषों को मोहित करता है, सुखी करता है अर्थात् शीलवान पुरुष पर सभी लोगों का आकर्षण रहता है और इसके विपरीत शील रहित व्यभिचारी कोई पुरुष कामदेव के तुल्य भी रूपवान हो तो भी लोक में उसे सब धुतकारा करते हैं। इस कामी को कुशील इसलिये कहते हैं कि शील यानि आत्मा का स्वभाव वह खोटा हो जाता है। धर्म से चलित हो जाने के कारण, आत्मा के स्वभाव से विचलित हो जाने के कारण, व्यवहार की शुद्धता से भी विचलित हो जाने के कारण उसको व्यभिचारी भी कहते हैं। कुशील के समान इस जगत में कोई कुकर्म नहीं इसलिये काम को कुकर्म भी कहते हैं। कुशीली मनुष्य पशु के समान हो जाता है इसलिये इसको अब्रह्म भी कहते हैं। कुशील के ऐसे सारे दोषों को जानकर ज्ञानी पुरुष अपने शील की रक्षा करता है और शील को समस्त गुणों में बड़ा गुण जानता है। शीलवान पुरुष ही वीर है 'भर्तृहरिजी' अपने एक श्लोक में लिखते हैं—

मत्तेभ-कुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः।
केचित्प्रचण्ड मृगराजवधेऽपि दक्षाः॥
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य।
कन्दर्प दर्प दलने विरला मनुष्याः॥

अर्थात् इस संसार में ऐसे शूर हैं जो मत्त हाथियों के कुंभस्थल के दलन करने में समर्थ हैं, कितने ही शूरवीर ऐसे हैं जो मृगराज कहिये सिंह के वध करने में दक्ष हैं किन्तु मैं (भर्तृहरि) सबके सामने हाथ पसार कर कहता हूँ कि कन्दर्प कहिये कामदेव के दर्प को दलन करने वाले संसार में विरले ही पुरुष हैं जिसने कंदर्प के दर्प को दलन कर दिया उसने संसार मिटा दिया।

भ० पार्श्वनाथ की बात भी स्मरण में लो। एक बार कामदेव और रति ये दोनों भयंकर जंगल में घूमते हुये जा रहे थे। कामदेव कोई देवता नहीं है कामी पुरुष के मन के जो विचार हैं उन विचारों का नाम कामदेव रख दिया, और स्त्री के विचार हुये उसका नाम रति रख दिया। तो काम विषयक विचारों का नाम कामदेव और रती है। अलंकार में बात कही जा रही है कि कामदेव और कामदेव की स्त्री रती ये दोनों वन में जा रहे थे कि उस वन खंड में एक जगह तीर्थंकर पार्श्व मुनि अपने आसन से अडिग, आत्मध्यान में लवलीन प्रसन्न मुद्रा सहित विराजे हुये दिख गये, तो रति पूछती है और उसका उत्तर कामदेव देता है। क्या उनका प्रश्नोत्तर रूप संवाद है ? सो सुनिये—

> कोऽयं नाथ जिनो भवेत्तव वशी, ऊं हूं प्रतापी प्रिये।
> ऊँ हूँ तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यविलेपक्रियां॥
> मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभु रसौ तत्किंकरा के वयं।
> इत्येवं रति काम जल्प विषयः पार्श्व प्रभु पातु, वः॥

अर्थात् काम विजेता श्री पार्श्व जिनेन्द्र अपने आत्म ध्यान में विराजे थे। उन्हें देखकर रति पूछती है कोऽयं नाथ ? यह कौन है ? कामदेव उत्तर देता है—जिनः। ये जिनदेव हैं। रति कहती है—भवेत्तव वशी ? यह भी तुम्हारे अधिकार में, वश में है या नहीं ? अर्थात् काम वासना के जाल में ये भी फंसे हुये हैं या नहीं ? तो कामदेव उत्तर देता है ऊंहूँ। ये तो काम वासना के जाल में नहीं फंसे हुये हैं। क्यों ? प्रतापी प्रिये—हे प्रिये ये बड़े प्रतापी पुरुष हैं, मैंने और सब जगह तो जीवों को वश में कर डाला, पर इन पर हमारा कुछ वश नहीं चलता है। तो रति कहती है ऊंहूँ तर्हि विमुञ्चकातरमते शौर्यविलेप क्रियां। यदि नहीं जीत पाया है तो हे कामदेव ! तू अब अपनी बहादुरी की डींग मारना छोड़ दे। जो मेरे साथ बहादुरी की डींग मारा करता है कि मैंने सारे जगत को वश में किया है अब तू उस डींग को त्याग दे। तो कामदेव बोलता है—मोहोऽनेन

विनिर्जितः प्रभु रसी तत्किंकराः के वयं, इस योगी ने मोह को जीत लिया है। जब हम ही इसके दास हो गये हैं तो कैसे इनको वश में कर लें। ऐसी बातचीत जिसके बारे में काम और रती करने जा रहे हैं—वह पार्श्व जिनेन्द्र हम सबकी रक्षा करें।

ज्ञानी पुरुष पाँच बालयति तीर्थंकरों का स्मरण कर अपना बल बढाता है और अपने शील की रक्षा करता है। शील सहित पुरुष का अल्प भी व्रत तप मधुर फल को प्राप्त होता है परन्तु शील बिना बहुत तप व्रत भी निष्फल है ऐसा जानकर अपने आत्मा में शील की शुद्धता के अर्थ शील का ही नित्य आदर करो। क्योंकि ये शीलव्रत मनुष्य जन्म में ही है अन्य गति में नहीं है अतः मनुष्य जन्म की सफलता शील की उज्जवलता में ही है। उसी का यत्न हम आप सब को करना योग्य है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग

तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारणभूत चौथी भावना है अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ है कि निरन्तर अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा में ज्ञान का ही उपयोग रहे, जानन देखन रूप से उपयोग की प्रवृत्ति हो मोह, राग, द्वेष, रूप से नहीं। ज्ञानी पुरुष अपनी कोशिष और भावना ऐसी ही रखता है कि निरन्तर ज्ञान में उपयोग रहे। वैसे तो ज्ञानोपयोग आत्मा का स्वभाव ही है, कोई बाहर की चीज नहीं है, ज्ञान से खाली जीवमात्र कोई भी नहीं। ज्ञानोपयोग में बाधक है हमारी मिथ्या श्रद्धा। सम्यक् श्रद्धा न होने से ही विनय कुविनय, शील कुशील और ज्ञान अज्ञान बन रहा है जबकि सत्य श्रद्धा में विनय सम्पन्नता के फूल खिलते हैं जिसमें शील के रसपूर्ण फल लगते हैं उसी फूल की गन्ध और उसी रस के स्वाद का नाम ही है अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग। ज्ञानोपयोग से मतलब है ज्ञान की विशुद्धता से। यानि विकार विभाव रहित जो खालिस ज्ञान है, विशुद्ध ध्यान है उसी का नाम है ज्ञानोपयोग। ज्ञानोपयोग चैतन्य की परिणति है सो प्रत्येक क्षण निरन्तर चैतन्य की भावना में जावे तभी मनुष्य जीवन की सफलता है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभादिक विकारी भावों का संस्कार अनादिकालीन होने से मुझ चैतन्य स्वरूप आत्मा में घुल मिल से रहे हैं अब ऐसी भावना का यत्न होना कि रागद्वेषादिक भावों से मुक्त जो ज्ञायक स्वरूप आत्मा उसमें ही उपयोग ठहर जाये अन्यत्र नाना प्रकार के व्यभिचारी भावों में न घूमें सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नाम की भावना है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अत्यन्त निर्दोष अनुष्ठान है जीव का धन, जीव का प्राण ज्ञान ही तो है जो जीव का साथ कभी नहीं छोड़ता है। अत: ज्ञान की उपासना ही जगत में सत्य व्यवसाय है ऐसी बुद्धि आने पर ही ऐसा भाव बनता है कि मैं ज्ञान के अर्जन के लिये अथक प्रयत्न करूं अज्ञानी जीव धन के अर्जन के लिये कितना परिश्रम करते हुये देखे जाते हैं परन्तु इस कल्पित धन और ज्ञान धन में कितना अन्तर है वे इसको न समझकर दु:ख भोगते हैं विचार करो न—धन तो पुण्योदय अनुकूल हो तो मिलता है, न अनुकूल हो तो कितना भी यत्न किया जाये, श्रम किया जाये वह प्राप्त नहीं होता। और फिर यदि धन की प्राप्ति हो भी जाये तो उसको छीनने वाले शत्रु आदि अनेक बाधक हैं, और कदाचित कोई बाधक भी न हो तो धन प्राप्ति में राग भाव करके आकुलता की ही वद्धि होती

है, तृष्णा बढ़ती है और अंत में तो यह धन साथ जाता ही नहीं—मरण होने पर सब यहीं पड़ा रह जाता है अब सोच लो कि इस धन वैभव से कौन सा लाभ लूटा—केवल आत्मा को पाप संस्कारों में डाला, आकुलतायें चिन्तायें मोल लीं, आत्मा दुर्गति का पात्र बना, मिथ्या भाव पुष्ट किये, मोह ममता बढायी इसके अलावा और कुछ मिला क्या, बस जीवन यों व्यर्थ ही गंवा दिया। किन्तु यदि सद्बुद्धि जगा के ज्ञान धन के अर्जन का यत्न किया जाये तो देखो ज्ञान धन ऐसा धन है कि जिसे चोर नहीं चुरा सकते, राजा भी छीन नहीं सकता और मरने पर भी संस्कार रूप में साथ जाता है तथा ज्ञान की जागृति में मिथ्या भाव नष्ट होते, सन्तोष और शांति रहती है ऐसे अपने सम्यग्ज्ञान के अर्जन में अपने उपयोग को निरन्तर लगाये रखने की भावना ज्ञानी पुरुष के होती है।

ज्ञान में उपयोग का लगाना कहो या धर्म करना कहो एक ही बात है, ज्ञान का ज्ञान रूप से रहना, उसके साथ राग द्वेष रूप कलुपता का न आने देना बस यही तो धर्म का पालन है। देखो इतना सहज सुगम और स्वाधीन काम तो अज्ञानी जीव को कठिन लग रहा है और जो पराधीन दुःखमय है ऐसी अज्ञान की विडम्बना में यह जीव रूलता चला आ रहा है। अज्ञान अंधेरे में यह जीव चैन मानता है, राजी होता है यही एक आश्चर्य की बात है। सोचो जिनको विषय बनाकर तू मोह राग द्वेष की वृत्ति जगाता है वे सब तेरे से अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ ही तो हैं। धन वैभव स्त्री पुत्रादिक शरीर कर्म आदिक ये सब पर पदार्थ तेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, जिनसे मेरा रंच भी हित नहीं है फिर क्यों उनमें व्यामोह करना और अपने धर्म से, ज्ञान से च्युत होकर दुःख उठाना। आत्मन्! अज्ञान तिमिर है, विप है, मृत्यू है इसके विपरीत ज्ञान आलोक, अमरता और अमृत है। अज्ञान की स्थिति में किसी बात का ज्ञान यथार्थ नहीं किया जा सकता। अन्धकार में चलने वाला व्यक्ति किसी कूप, वापी, तड़ाग में गिर सकता है, किसी विषधर नाग पर पैर रखकर विप कीलित हो सकता है परन्तु जिसने दीपक हाथ में लिया है वह सुखपूर्वक मार्ग के कंटकों से अपने को सुरक्षित रखता हुआ इष्ट स्थान को पा लेता है। मनुष्य जन्म की शोभा ज्ञान के प्रकाश में रहने से है। कितना दुर्लभ यह जन्म है फिर भी ऐसे कठिन मनुष्य भव को पाकर गप्पों में लगाना, मोहियों में ही अधिक समय बिताना और अनार्य कार्यों में, उनकी कल्पनाओं में समय गुजारना यह बहुत विकट अंधेरा है लोक में ये कोई पदार्थ

शरण भूत नहीं हैं। शरणभूत और सारभूत तो अपने चैतन्य स्वरूप में ज्ञानोपयोग की परिणति बने यही एक मात्र प्रयास है, अपना समय ऐसे परमार्थ ज्ञान के उपयोग के यत्न में लगाना—देखो यहां तुझे श्रेष्ठ मन मिला है, इन्द्रियां भी व्यवस्थित है, बुद्धि भी काम करती है, ज्ञान के साधन भी हैं ऐसे अवसर को पाकर हे आत्मन् ज्ञान के अभ्यास बिना एक क्षण भी मत जाने दो। अपना समय ज्ञानोपयोग में, धर्म साधना में लगाना चाहिये। जो समय असार कामों में व्यतीत किया है वह तो अब लौटकर आने वाला है नहीं अतः समय मात्र का भी प्रमाद अपने आत्मकार्य में नहीं करना चाहिये। आयू सीमित है और इसके समाप्त होने में देर नहीं लगती, संसार में इतराते हुये पापाचरण में समय व्यतीत करना महान मूर्खता है। शेष जीवन का समय सम्यग्ज्ञान के अर्जन में व्यतीत करने की भावना होना श्रेयस्कर है। ज्ञान के अभ्यास बिना मनुष्य पशुवत है।

सर्व परभावों से भिन्न ज्ञानमात्र जो आत्मा का अंतस्तत्व है उसका ज्ञान करें यह है सम्यक् ज्ञान। जिसे इस ज्ञान का व्यवसाय मिला फिर उसे अन्य व्यवसाय करने को नहीं रह जाता। इस सम्यक् ज्ञान का अभ्यास कैसे हो? इसके उपाय शास्त्रों में आचार्यों ने अनेक प्रकार से समझाये हैं। योग्यकाल में जिनागम का पाठ करना, समभाव में ध्यान करना, शास्त्रों के अर्थ का चितवन करना, किसी अपने से बड़े को गुरु मानकर उनसे शिक्षा ग्रहण करना और ज्ञान के अर्थ गुरु जनों में, ज्ञानी जनों में नम्रता. अभिनन्दन विनय करना ये सब ज्ञानाभ्यास के उपाय हैं। जितना हृदय नम्र बनेगा, विनयशील होगा उतना ही ज्ञान का प्रवेश होगा। विनय भाव में ज्ञान के आकर्षण की शक्ति है ज्ञानाभ्यास के अर्थ ज्ञान का सहायक काम है विनयपूर्वक रहना। ज्ञानोपयोग के ५ साधन हैं। तत्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामि महाराज ने कहा है—

"वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नाय धर्मोपदेशाः" यानि वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्याय के ज्ञानोपयोग के ५ उपाय हैं।

(१) निर्दोष ग्रन्थ को बाँचकर उसके अर्थ का विचार कर अपने आत्मा के स्पर्श का यत्न करना सो वाचना है।

(२) संशय को दूर करने के लिये अथवा तत्व के निर्णय को दृढ़ करने के लिये दूसरे से कुछ पूछना सो पृच्छना है। दूसरे की परीक्षा के लिये अथवा लोक में मैं कुछ बड़ा कहलाऊं ऐसे भाव से ज्ञानी पुरुष किसी से कुछ भी

नहीं पूछते। परन्तु जिसमें अपने कल्याण का आशय हो वही पृच्छना ज्ञान का साधन बन सकती है।

(३) जाने हुये पदार्थ का बारम्बार चिंतन करना, भावना करना, विचार करना सो अनुप्रेक्षा है यह तीसरा ज्ञानाभ्यास का मार्ग है।

(४) किसी गुरू से विद्या पढ़ना उसमें धार्मिक विषय को याद करना, पाठ को सीखना सो आम्नाय है यह भी ज्ञानाभ्यास के उपायों में शामिल है।

(५) दूसरे जीवों को धर्मोपदेश देना, यह भी ज्ञान के उपयोग में शामिल है धर्मोपदेश से भी निज ज्ञान की दृष्टि का अभ्यास बढ़ता है।

इन अनेक उपायों से ज्ञानी पुरुष ज्ञान की भावना को पुष्ट करता है। जितना समय ज्ञान दृष्टि में व्यतीत होता उतना समय कितना सुन्दर सफल आनन्दमय बीतता है। अतः अपना अधिकाधिक समय ज्ञानोपयोग के साधनों में लगाना चाहिये। जैसे यह कहते न, ऐसा प्रोग्राम रहता न कि समय मिलेगा तो शास्त्र में पहुंचेगे बजाय इसके ऐसा प्रोग्राम हो जाये कि समय मिलेगा तो दुकान धनार्जन या गप्पों में लगेंगे—मेरे पास ज्ञानोपयोग रूप सारभूत काम छोड़कर इन असार कामों के लिये समय नहीं है ऐसी धुन बन जाना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

'उपयोगो लक्षणम्' जीव का लक्षण उपयोग है वह उपयोग कहीं न कहीं लगा ही रहता है—उपयोग से रिक्त तो कभी जीव होता ही नहीं चाहे वह उपयोग विषय कषाय में लगे, धर्म साधन में लगे, ज्ञान स्वरूप आत्मा में लगे। तो अपने ज्ञान स्वरूप का उपयोग बनावे कि मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ, नित्य हूं, अविनाशी हूं, स्वतंत्र हूँ, ज्ञानानन्दमय हूं, वर्णादिक से रहित हूं ऐसी अपनी स्वतंत्रता का भान करके मन की स्थिरता करे और उपयोग को अन्यत्र न जाने दे सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। ज्ञायक को ज्ञानोपलब्धि की वेला प्राप्त हो यह पहलू ज्ञानोपयोग भावना में सर्वोत्कृष्ट है। ज्ञायक की ज्ञान यात्रा सतह तक ही सीमित न रहकर तल की ओर, गहराई की ओर जाना चाहिये। समस्त द्रव्यों में मिला हुआ जो अपना आत्मा उसका भिन्न अनुभव होना सो ही ज्ञानोपयोग है। ज्ञानोपयोग के सिवाय अन्यत्र कहीं भी उपयोग को लगा लो, सन्तोष और सुख की निधि नहीं मिल सकेगी। निर्धन तो धन बिना दुःखी हैं धनी तृष्णा के कारण दुःखी हैं कोई इज्जत की चाह से दुःखी है और कोई इज्जत पाकर दुःखी है कोई कुटुम्ब के कारण दुःखी हैं तो कोई कुटुम्ब के बिना दुःखी हो रहे

हैं और यदि कदाचित् पुण्योदय से सब कुछ अनुकूल इष्ट सामग्री भी मिल जाये तो भी सम्यग्ज्ञान के विना तृष्णावश दुःखी ही होते रहते हैं। सुखी और शान्त होने का उपाय एकमात्र सम्यक्ज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान के अर्जन के लिये ही अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व समर्पण करने की भावना रखना चाहिये। पढ़ते हैं न कि—

धन कन कंचन राजसुख, सवहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥

धन, कन, कंचन, राजसुख, हाथी, घोड़ा आदि की प्राप्ति सब सुलभ है परन्तु सम्यग्ज्ञान का पाना दुर्लभ है। कहने का आशय यह है प्रथम तो यह मनुष्य भव पाया यह ही एक दुर्लभ बात है और फिर कुछ ज्ञान पाया जिससे कि हम धर्म की बात समझ सकते हैं, धर्म की बात बोल सकते हैं ऐसा दुर्लभ समागम पाकर भी सम्यग्ज्ञान का अर्जन न करें, ज्ञानोपयोग में न जुटें तो यह बड़े विषाद की बात है। लौकिक धनादि अचेतन परिग्रह और स्त्री पुत्रादि चेतन ये कोई भी परिग्रह काम आने वाले नहीं हैं किन्तु ज्ञान यह आत्मा का स्वरूप है इसके प्रकाश में सन्तोष और शान्ति प्राप्त होती है यह ज्ञान स्वरूप प्रगट हो जाये तो फिर वह अविचल हो जाता है इसे कोई छुड़ा नहीं सकता, बाँट नहीं सकता। ज्ञान के समान इस लोक में अन्य कोई भी पदार्थ सुखकारक नहीं हैं सब कुछ मिले पर ज्ञान पास न हो, विवेक न हो तो वह निराकुल तो रह नहीं सकता। इसीलिये कहा है—

ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण॥

भैया! यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि मात्र केवल अक्षर विद्या पढ़ने का नाम ज्ञान नहीं हैं। केवल रटंत विद्या से ज्ञानोपयोग की सिद्धि नहीं। किन्तु ज्ञान स्वरूप जो अपना आत्मा उसका अनुभवात्मक ज्ञान सो ज्ञानोपयोग है। अपने आपके ज्ञान स्वरूप का प्रतिबोध हो जाये।' यदि ज्ञान स्वरूप ज्ञान में आ जाये तो उस स्थिति के आनन्द को कौन बता सकता है वही परमामृत है और एक मात्र सुख का कारण है। जन्म जरा मृत्यु रूप संसार रोग का निवारण ज्ञान स्वरूप आत्मा के ज्ञान से ही होता है। उस ज्ञान स्वरूप के ज्ञान बिना शान्ति के लिये अन्य समस्त भी यत्न कर डालें, धर्म के नाम पर ही सही, बड़ा तप, बड़ा व्रत आदि

वहुत से परिश्रम भी किये जावें पर शान्ति आनन्द और कर्मक्षय का साधन तो शरीर की चेष्टा नहीं हैं किन्तु ज्ञानस्वरूप की दृष्टि बने, ज्ञानोपयोग बने यही है उन सब व्रतों और तपों का मूल। तभी तो कहा है—

> कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरें जे।
> ज्ञानी के छिनमांहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥
> मुनिव्रतधार अनंतवार ग्रीवक उपजायौ।
> पै निज आतम ज्ञान विना, सुख लेश न पायौ॥

जो पुरुष देह से भिन्न अविनाशी आत्मा को नहीं जानता, वह बड़ा घोर तप करके भी निर्वाण को, आनन्द को प्राप्त नहीं हो सकता, उसके क्लेश नहीं बुझ सकते। तो अनुभवात्मक आत्मज्ञान रहित कोई शाब्दिक शास्त्र ज्ञान से और आत्मज्ञान रहित तपश्चरण से ज्ञानी और तपस्वी नहीं कहलाता, किन्तु ज्ञानस्वरूप का ज्ञान हो जाने से ज्ञानी कहलाता है।

एक कथानक है कि एक गुरू के पास कुछ शिष्य पढ़ते थे। उनमें एक शिष्य अपना पाठ खूब कंठस्थ कर लेता था। गुरू जी के एक लड़की थी, सो सोचा कि अपनी लड़की का इस शिष्य के साथ विवाह कर दें। सो उस शिष्य के साथ उसने अपनी लड़की का विवाह कर दिया। वह पढ़ तो वहुत गया था सो ४-६ माह वाद एक दिन ख्याल में आया। एक श्लोक पढ़ा है कि 'भार्या रूपवती शत्रु:'। रूपवती स्त्री हो तो वह शत्रु है। उसका अर्थ तो कुछ और है, पर उसकी स्त्री रूपवती थी, सो उसने उस श्लोक से यह शिक्षा ली कि इसकी नाक काट दें तो फिर रूप न रहेगा अतः हमारी शत्रु भी न रहेगी। उसने स्त्री की नाक काट दी। गुरू ने क्रुद्ध होकर उसे घर से निकाल दिया। सोचा यह तो बड़ा मूर्ख आदमी है। चला गया घर से। सोचा किस ओर चलना चाहिये तो फिर शास्त्र का श्लोकांश याद किया—'महाजनो येन गतः स पन्थाः'। जिस रास्ते से बड़े पुरुष जायें वह रास्ता चलने योग्य है। उस समय एक सेठ का लड़का गुजर गया था। बड़े-२ लोग श्मशान घाट पर उसे लिये जा रहे थे। सो उनके ही पीछे यह थोड़ा सा कलेवा लेकर चल दिया। वे लोग तो अपनी क्रिया करके वापिस हो गये। वह मरघट में बैठ गया। अब उन ब्राह्मण-भट्ट महाराज को लगी थी भूख, सो खाना खाने को उसने सोचा, उसी

समय एक श्लोकान्श याद आया 'कि बन्धुभिः सह भोक्तव्यम्'। भोजन बान्धवों के साथ करना चाहिये। सोचा यहां बंधु कौन है? फिर श्लोकान्श याद किया, "राजद्वारे श्मशाने च य तिष्ठति स बांधवः।' कचहरी में और मरघट में जो साथ दे वही बान्धव है। सो मरघट में देखा कि यहां कौन बान्धव है सो एक गधा चर रहा था उसने सोचा कि यही मेरा बान्धव है सो उसके कान पकड़कर पास ले आया और आधा गधे को खिलाया और आधा स्वयं खाया। चलो वह श्लोक भी पूरा हुआ उसने फिर श्लोकान्श याद किया 'बंधु धर्मेण योजयेत्'। भाई को धर्म में लगाना चाहिये। सोचा कि ये गधा हमारा भाई है इसको धर्म में लगाना चाहिये। अब धर्म को ढूढ़ो। फिर श्लोकान्श याद आ गया 'धर्मस्यत्वरितागति'। धर्म की बड़ी तीव्र गति होती है। वहां जा रहा था एक ऊंट, वह बड़ी तेज गति से चल रहा था, सोचा कि इसकी बड़ी तीव्र गति है, यही धर्म है बंधु को इस धर्म में जोड़ना चाहिये। सो एक रस्सी से गधे को ऊंट के गले में बांधकर लटका दिया। अब वह गधा बड़े सकट में था, सो गधे वाले ने दौड़कर इनकी मरम्मत की व गधे को छुड़ाया। तो शास्त्र ज्ञान तो बहुत जाना परन्तु मर्म बोध नहीं हुआ। तो मर्मबोधशून्य अक्षर विद्या का नाम ज्ञान नहीं है किन्तु अनुभव में उतरे वह ज्ञान है। ज्ञान प्रगट होता है निज अंतस्तत्व का अनुभव हो जाने से। ओह देह से न्यारा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप ज्ञानज्योतिर्मय परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप मैं हूँ ऐसे अपने आत्म स्वभाव का उपयोग होना सो ज्ञानोपयोग है।

ज्ञानोपयोग ही जीव को हस्तावलम्बन है। इस दुखमय संसार समुद्र में डूबते हुये से कौन निकालेगा इसे? पुत्र, पिता, भाई, बहिन कोई भी संसार के दुःखों से बचाने में समर्थ नहीं हैं इसे संकटों से दूर करने वाला कुछ है तो इसका ही यथार्थ ज्ञान है। पर की चाह व्यर्थ है। अरहंत भगवंतो की यह आज्ञा है कि हे भव्य जीवों! सत्य ज्ञान चाहते हो तो अपने को ज्ञान में उपयुक्त करो अर्थात् ज्ञान की आराधना करो। अपने परिणामों को ऐसे सारभूत तत्व में लगाओ कि जिससे संसार के समस्त संकट टल जायें। भैया ज्ञान का सहारा लिये बिना शान्ति का पथ मिल ही नहीं सकता, मोह मिट ही नहीं सकता। तो मोह से ही तो दुःख है विषय कषाय में उपयोग का रमना मोह से, अज्ञान से ही तो होता है और मोह मिटता है ज्ञानाभ्यास से। इसलिये लिखा है "ज्ञानाभ्यास करे मन माँहि, ताके मोह महातम नांही"। ज्ञान एक प्रकाश है। जैसे सूर्य और अन्धकार

का एक जगह निवास नहीं हो सकता। जहां सूर्य का प्रकाश है वहां अंधेरा नहीं हैं ऐसे ही जहाँ ज्ञानप्रकाश है वहाँ मोहान्धकार का आत्मा में निवास नहीं हो सकता है। जिस आत्मा में ज्ञान प्रकाश है उस आत्मा में मोहान्धकार नहीं ठहर सकता है। दुःख है तो मात्र मोहान्धकार का है। स्वभाव से तो एक भी जीव दुःखी नहीं हैं किन्तु सबके चित्त में जुदे-२ प्रकार का मोह है, किसी का किसी वस्तु में राग है, किसी का किसी वस्तु में राग है। इस मोह राग के कारण ही सभी जीव परेशान हैं। यह परेशानी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के प्रसाद से मिट सकती है।

अपने अत्यन्त पवित्र ज्ञान ज्योति स्वरूप आत्म तत्व के अनुभव करने से ही मौलिक शान्ति का लाभ मिलेगा। मैं केवल ज्ञान मात्र हूँ अन्य रूप नहीं हूँ यही भाव उपयोग में निरन्तर रखना योग्य है। अपने आपका जीवन ज्ञानानुभव में ही व्यतीत हो इससे अधिक हित का काम अन्य कुछ भी नहीं है। यह मन विषय कषायों में, विकल्पों में विचर-विचर कर ऊधम मचाता है, इसी बात की तो परेशानी है कि उपयोग ज्ञानातिरिक्त अन्य पदार्थो में भटक रहा है। अपनी चाह के मुताबिक व्यर्थ की कल्पनायें करते रहने की आदत तजो। मन वचन काय की गुप्ति से ही आत्म बल बढ़ेगा। संसार में सार सिवाय एक अपने आत्म प्रभु का शरण लेने के अतिरिक्त अन्य कुछ हो तो बताओ ? किसका शरण गहना ? कहाँ मन वचन काय को लगाना ? सबसे धोखा मिलेगा। मन, वचन, काय की क्रियाओं में भी अनुराग मत रखो ज्ञानानन्द स्वरूप निज अंतस्तत्व की रुचि उत्पन्न करके अपने निज स्वभाव में ही समा जाने का यत्न और अभ्यास ही श्रेयस्कर है। मैं परपदार्थ, परभाव और विकल्प से रहित एक ज्ञान ज्योति स्वरूप निर्विकल्प तत्व हूँ ऐसा श्रद्धान करके अपने निज आत्म तत्व का श्रद्धान करो। जो दृश्यमान है वह सब अजीव है उस अजीव की चाह व्यर्थ ही है। मेरा ज्ञान और आनन्द मुझ में है, मुझ से ही वह प्रगट होगा अन्य से नहीं, अस्तु अपने ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में लेना सो ज्ञानोपयोग है।

अज्ञान अवस्था से बढ़कर जीव के लिये कुछ विडम्बना नहीं है और ज्ञान दृष्टि के बराबर लोक में कहीं भी कुछ सम्पदा नहीं है। अपने आप में अनादि अनंत अहेतुक अन्तः प्रकाशमान ज्ञायक स्वरूप की दृष्टि करें और अपने में अपना प्रसाद पायें यही एक सारभूत बात है। अभिन्न आत्मतत्व की उपासना से परमात्मतत्व उपलब्ध होगा। अपने चित्त को, उपयोग को दो जगह लगाना ही उपयुक्त है एक तो परमात्म स्वरूप में

और दूसरे अपने आत्मा के सहज स्वरूप में। परमात्म स्वरूप में अपना उपयोग लगाने से ज्ञानोपयोग की दिशा, ज्ञानोपयोग का मार्ग मिलता है क्योंकि परमात्मा कौन है? जो केवल ज्ञानपुन्ज रह गये—न उनके शरीर, न धन वैभव, न कोई विकार, न कोई क्लेश नि:संकट जो केवल ज्ञानपुन्ज आत्मतत्व वह जिनका विकसित हो गया है, वह प्रभु है और इसी कारण वह पूज्य है, ज्ञान चेतना के बल से ही उन प्रभु ने वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त की। तो अपने को भी ऐसा ही उपयोग बनाना चाहिये कि मोह छूटे और अपने आपके केवल इस अकिन्चन् ज्ञानस्वरूप में ही अपना उपयोग लगे। देखो यद्यपि अर्हन्त भगवान या सिद्ध भगवान संसारी आत्मा से भिन्न हैं परन्तु संसारी आत्मा उनका दर्शन, पूजन, चितवन, आराधना और ध्यान करता है तो वह भी उनके समान ही पूज्य परमात्मा बन जाता है। जैसे कि प्रकाशमय दीपक से बत्ती अलग वस्तु है परन्तु दीपक के साथ रहकर वह भी दीपक के समान प्रकाश रूप हो जाती है। अथवा अपना आत्मा अपने आत्मस्वरूप की ही आराधना, चिंतन करके परमात्मा हो जाता है जैसे जंगल के बाँस अपने आप से रगड़ करके अग्नि हो जाते हैं। वे बाँस खुद ही एक दूसरे से रगड़कर आग रूप हो जाते हैं तो जैसे बाँस, बाँस की उपासना करके, बाँस स्वयं आग बन जाता है इसी प्रकार आत्मा अपने आत्मा के सहज गुणों की आराधना करके परमात्मा बन जाता है। तत्वानुभव का मार्ग साफ और स्पष्ट समझ में आता है। अज्ञान संस्कारों को हटाकर अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा की उपासना में रहकर ज्ञानोपयोगी बनो। प्रत्येक पदार्थ परस्पर भिन्न हैं अपने आप में सब परिपूर्ण हैं अतः पर में उपयोग को भटकाकर रागी द्वेषी बनना योग्य नहीं। अपने ज्ञान स्वरूप की उपासना से शान्ति लाभ पाना ही योग्य है।

आत्मन्! तू जीव है, ज्ञान है, ज्ञान जीव से भिन्न नही हैं जीव का स्वरूप ही ज्ञान है इसलिये सर्व व्यवसाय करके इस ज्ञान मात्र आत्मतत्व को देख। ज्ञानमात्र आत्मतत्व को देखने से यहाँ के विपरीत आशय सब दूर हो जाते हैं ज्ञान में विपरीत आशय का दूर हो जाना, स्वच्छता होना यही तो सत्यश्रद्धा है तेरा ज्ञान सर्व ज्ञेयों से जुदा है और अपने आपकी अन्तर की रत्नत्रय की कलाओं से अभिन्न है। ज्ञान की सम्भाल से सब सम्भल जाता है। जो तुम से भिन्न है वे सब अहित रूप हैं। जो हित रूप हैं वे सब तुझ ज्ञानमात्र से अभिन्न हैं वे ही तेरे हित रूप हैं।

तू हित की खोज बाहर मत कर। अपने आप में अपने आप की ही रुचि करके, अपने आपके सिवाय सबको भुला करके अपने आपके ज्ञान रस में मग्न हो तो तुझ में अपने आपके सर्व विलास विकास के चमत्कार अनुभूत होंगे और तू सर्व प्रकार के संकटों से मुक्ति पायेगा। स्वयं को समस्त पर द्रव्यों से भिन्न और अपने ज्ञानदर्शनादिक गुणों से अभिन्न ऐसे अपने आत्म तत्व को देख। ज्ञान में जो ज्ञेयपने का संकर दोष है इसको हटा। ज्ञेयों में ममता करना या उनसे द्वेष करना ही तेरा अपराध है इसी के कारण तूं दुखी बन जाता है। अरे बाहर में किसका क्या है ? तूं जैसा अकिंचन स्वरूपी है, ज्ञान रूप है उसी रूप से अपने को जानना, मानना और उसी रूप रहना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

विचारो तेरे में जो ये रागद्वेष की धारा चल रही है यह तभी तक है जब तक कि यह ज्ञान, ज्ञान रूप नहीं बनता। ऐसा न होने से ही राग द्वेष का नृत्य चलता रहता हं। मैं ज्ञान मात्र हूँ केवल जानन स्वरूप परिणमता हूँ, इस मुझ आतम तत्व का अन्य द्रव्य के साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं हैं। यह जीव ही मूढ़ बनकर परवस्तु के सम्बन्ध में विकल्प बनाकर खुद दुःखी होता है दूसरा कोई दुःखी करने में समर्थ नहीं है। ज्ञान को ज्ञान रूप बनाओ और ज्ञेय को ज्ञेय रूप ही रहने दो, तो राग द्वेप का चक्र समाप्त होगा। पुद्गल द्रव्य का और जीव द्रव्य का परस्पर में सम्बन्ध नहीं हैं, एक दूसरे का आपस में अत्यन्ताभाव है जीव के कोई भी गुण शब्दादिक पर विषयों में नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य का अपने आप में, अपने आप का उत्पाद व्यय होता है। ऐसी वस्तु स्वतंत्रता की दृष्टि से स्वात्मोपयोगी, ज्ञानोपयोगी बनो, और संसार के समस्त संकटों से मुक्त होने का उपाय बनाओ।

आत्म ज्ञान को सम्पूर्ण विज्ञानों का विज्ञान बताया है कारण कि उसके जान लेने पर सर्व कुछ जान लिया जाता है फिर कुछ भी जानने को शेप नहीं रहता। आत्मज्ञानी ही परिपूर्ण ज्ञान को पाने का अधिकारी होता है। आत्मज्ञान बिना आत्मा का विकास नहीं होता। अतः स्व को जानना और स्व रूप से ही उसे मानना जीवन का परम कर्तव्य होना चाहिये। आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसका स्वभाव क्या है, यह जानना अत्यावश्यक है। तूं अपने बारे में सर्वाधिक विचार किया कर। और शरीर से निराले अपने ज्ञान स्वरूप की ही सुध रखाकर। इस स्वात्म प्रतीति ही धर्म है, समता है, चारित्र है, मोक्ष का मूल है। [illegible] [illegible]

में क्लेश ही क्लेश है ज्ञानमात्र स्वरूप में आनन्द है इस स्वरूप में रमने का अभ्यासी वन। तू अरस, अरूपी, अस्पर्शी ज्ञानानन्दतत्व है ऐसी प्रतीति करके अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में उपयोग वने ऐसी ज्ञानोपयोग की भावना का अभ्यास कर।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी पुरुष ज्ञान की वार्ताओं, में ज्ञान के साधनों में ही अपनी प्रवृत्ति करता है जिससे कि वह-स्वकल्याण तो करता ही है साथ ही पर जीवों को भी कल्याण में उपकारी होता है। ज्ञानाभ्यास से पंचेन्द्रियों के विषयों की वांछा नष्ट होती है और कषाय का अभाव होता है। माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य भी ज्ञान के अभ्यास से ही नष्ट होतीं हैं। ज्ञानाभ्यास से अनेक प्रकार के विकल्प नष्ट होकर मन की स्थिरता वनती है। ज्ञानाभ्यास से ही व्रत-संयम में दृढ़ता का भाव आता है और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में अचल रहकर कर्मों का क्षय होता है।

ज्ञान जीव का शाश्वत स्वभाव है वह प्राणिमात्र में अटूट मात्रा में विद्यमान है। खेद इस वात का है कि मानव अपने स्वभाव को ही भूला हुआ है वह शास्त्रों और पुस्तकों के अध्ययन में तो लगा रहता है पर अन्तर में ज्ञान ज्योति का प्रकाश फैलाने की ओर उसका ध्यान नहीं हैं। शास्त्र ज्ञानार्जन के लिये साधन हो सकते हैं पर साध्य नहीं। वस्तु के स्वभाव को यथार्थ रूप में जानना, निरन्तर ज्ञ न में लवलीन रहना, आत्म चिन्तन करना, स्वाध्याय करना और शरीर व आत्मा को प्रथक समझना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। जिसके जीवन में अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नहीं, उसका जीवन व्यर्थ है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अनी.त, पाप और अधर्म से वचाता है। जिनेन्द्र का शापन ज्ञानाभ्यास द्वारा ही प्रवर्तता है। धर्म की प्रभावना ज्ञानाभ्यास से ही विशेष होती है। ज्ञानाभ्यास से अशुभ कर्म का नाश होता है तथा पूर्व संचित पाप नष्ट हो जाता है। 'जिन धर्म' का स्थंभ ज्ञान का अभ्यास ही है। ज्ञान के प्रभाव से ही उत्तम क्षमादिक धर्मों का अभ्युदय होता है। इतना ही नहीं भक्ष्य-अभक्ष्य, योग्य अयोग्य, त्यागने योग्य-ग्रहण करने योग्य का विचार ज्ञान से ही होता है। यहाँ तक कि ज्ञान विना परमार्थ तो नष्ट होता ही है लेकिन व्यवहार भी नष्ट होता है। कोई राजपुत्र भी हो लेकिन ज्ञान रहित हो तो उसका भी निरा-दर होता है। ज्ञान समान कोई सम्पदा नहीं। ज्ञान दान सबसे वड़ा दान है जो शिष्य जन हैं कम पढ़े लिखे हैं उनको भी ज्ञान की वात सिखाना, उपदेश करना, पढ़ाना यह सब भी ज्ञानोपयोग है। संसार का यथार्थ

स्वरूप, शरीर का यथार्थ स्वरूप, भोगों का यथार्थ स्वरूप चिन्तन में रहना यह भी ज्ञानोपयोग है। जिसने ज्ञानाभ्यास नहीं किया, पर्याय को ही निज स्वरूप माना उसे सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती। सर्व कल्याणों की जड़ है यह ज्ञानोपयोग। यथार्थ ज्ञान की किरण बिना, शुद्ध बोध के प्रकाश बिना यह सारा जीवन निष्फल है। कौन काम करने योग्य है, कौन नहीं है यह जब तक विदित नहीं होता तब तक मोक्ष के मार्ग में, शान्ति के मार्ग में कैसे आ सकते हैं। अपने पाये हुये इस दुर्लभ समागम को ज्ञान की सेवा में ही लगाओ। यह तन पाया है तो ज्ञान के लिये इस तन का श्रम करो। ज्ञानवंत गुरू जनों की सेवा में रहो। मन पाया है तो ज्ञान की उपासना के लिये उत्सुकता रखो और ज्ञानवंत पुरुषों की मन से सराहना करो। धन पाया है तो ज्ञान के साधनों के प्रसार में इसका व्यय करो। अपने शिक्षण के लिये भी व्यय करो। दूसरे भी धर्म विद्या पढ़ें, उसके लिये व्यय करो तथा और भी अनेक साधन हैं विद्वानों का समागम बनाओ, शास्त्रों का प्रकाशन कराओ आदि। जो भी ज्ञानोपयोग के साधन हैं पाठशालायें खुलवाना, धर्म शिक्षण शिविर चलवाना आदि ज्ञान के अनुष्ठानों में अपने तन, मन, धन और वचन का सदुपयोग करना चाहिये। जैसा कि छः ढाला में कहा है कि:—

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै॥
तास ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनौ॥

इतना ही नहीं और भी कहा है:—

जे पूरब शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं।
विषय चाह दव दाह, जगत जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै॥

कहने का सर्व तात्पर्य इतना है कि मनुष्य जन्म पाकर सम्यग्ज्ञान का अर्जन करने में ही मनुष्य जन्म की शोभा है और ज्ञानोपयोग की साधना में ही आत्मा का हित है। तन, मन, धन वचन ज्ञान के लिये

न्यौछावर हो जायें ऐसी जिसके भावना जगती है और यत्न होता है वह इस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की प्राप्ति कर लेता है। ज्ञान की चर्चा में, पठन पाठन में, उपदेश में, ज्ञानमय वचनों में अपना तन, मन, धन, वचन लगाना सो भी सब ज्ञानोपयोग की परम सेवा है। यों प्रत्येक सम्भव उपायों से ज्ञान के लिये उपयोग बनाना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। निरन्तर ज्ञान का उपयोग करने वाले महापुरुष चाहे अविरत सम्यग्दृष्टि हों, चाहे साधु हों उनको जब विश्व पर परम करुणा की झलक होती है तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। ज्ञान की बड़ी महिमा है ऐसा जान कर निरन्तर अपनी भावना ऐसी बनाओ कि—

जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभो, दुर्नयतम सत्वर टल जावे।
बस ज्ञाता दृष्टा रह जाऊं, मद मत्सर मोह विनश जावे॥

सोलह कारण भावनाओं में इस प्रकार अभी तक दर्शन विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नाम की ४ भावनायें समाप्त हुई।

संवेग

तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारणभूत ५ वीं भावना का नाम है संवेग। अब संवेग भावना की बात होगी। संसार, शरीर और भोगों में आसक्ति न रखते हुये निर्लेप भाव से रहना ही संवेग भावना है। संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति ही शान्ति का कारण है ऐसा जानकर संवेग का आदर होना, संवेग की भावना करना सो संवेग भावना है। संवेग का दूसरा अर्थ है धर्म में अनुराग करना और धर्म के फल में अनुराग करना। यानि दोनों परिभाषाओं को जोड़कर यह अर्थ हुआ कि संसार, शरीर व भोगों से विरक्त होकर धर्म में और धर्म के फल में अनुराग करना सो संवेग भावना है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव संसारिक पर पदार्थों के संग्रह और संचय में ही अपना सारा श्रम लगा रहे हैं। इस असार संसार की नश्वरता एवं मृत्यु की अनिवार्यता के उदाहरण नित्य प्रति जीवन में हमें देखने और अनुभव करने को मिलते हैं, पर भौतिक पदार्थों की दौड़ में ही प्राणी दौड़े चले जा रहे हैं और निरन्तर आकुलता में जल रहे हैं। धन, वैभव, स्त्री, पुत्र, मोटर कार, कोठी, बंगला, टेलीविजन कारखाने इन संसारिक पदार्थों में सुख की भ्रान्ति करके इन्हीं की उपासना की जा रही है। जिनकी उपासना में कष्ट है, रक्षा करने में कष्ट है और जिनका वियोग भी नियम से होना है तब वियोग के समय में कष्ट है। ये सब साधन अज्ञानता, उदण्डता और पाप भार को बढ़ाने वाले ही तो हैं इनमें सुख कहाँ ? धन, वैभव आदि सब अशरण हैं।

लो सर्वप्रथम संसारिक सुख में पुत्र से होने वाले सुख की बात विचारें—संसार में हर व्यक्ति को पुत्र की चाहना होती है पर देखो पुत्र ने आदि से अन्त तक कितनी परेशानी में डाला। प्रथम तो जब गर्भ में आता है तो स्त्री की सुन्दरता पुत्र ने हर ली—स्त्री की सुन्दरता खतम हो गयी—शरीर में क्षीणता आना, दुर्बल होना, रक्त कम बनना, कुछ वैसे ही पीलापन आ जाना आदि अनेक बातें बड़े कष्ट की हो जाती हैं। वह सब यौवन का सौन्दर्य नष्ट कर देता है। अब गर्भ से निकलते समय की बात याद करो-उस समय माँ को असहनीय वेदना देता है। कई मातायें तो बेहोश हो जाती, मृत्यु तक हो जाती है उनकी इस प्रसव काल में। इतना ही नहीं, घर के लोग भी सब चिन्ता-ग्रस्त हो जाते हैं, सोचते है लोग कि बड़ी सुविधापूर्वक प्रसव हो जावे।

लो वह बच्चा अब कुछ बड़ा सा होता है तो अपने खाने पीने में कमी कर ली जाती है और उसकी ओर दृष्टि जाती है। स्वयं विना दूध के, विना घी के रह जायें यहां तक कि भूखें भी रह जायें पर बच्चे का ध्यान है पूरा। इसके बाद स्वयं अनेक कष्ट सहकर पढ़ाते लिखाते हैं। आज के समय में पढ़ाई का खर्चा कितना बढ़ गया है, यदि B.A. में पढ़ता है तो कम से कम १५०) महिना तो चाहिये ही उसे। और फिर यदि बड़ा होकर आज्ञाकारी नहीं बनता, अनीति मार्ग में लग जाता है, व्यसनी बन जाता है। तो फिर वही पुत्र अनेक मानसिक दुःखों का कारण बन जाता है। शादी होने पर तो अपने मात पिता को बिल्कुल ही भूल जाता है, उनकी सुध भी नहीं लेता, मात पिता का घर छोड़कर ससुराल का घर ही हो जाता है उसके लिये सब कुछ। अब अपना घर कुछ नहीं रहा उसकी निगाह में। बड़े हुये बाल-बच्चे वाले तो फिर तो अपनी स्त्री का पक्ष लिया, पुत्र का पक्ष लिया और मात पिता का अपमान और तिरस्कार करना शुरू कर देता है। बिचारे मात पिता मन मसोस कर रह जाते हैं। कितनी आशा लगायी थी इस ललन पर, उसके माता पिता ने, कि यह बड़ा होगा तो सुख देगा। किन्तु हो रहा है उल्टा। तो देखो पुत्र के संसर्ग में अनर्थता ही तो हाथ लगी। फिर भी आज एक ओर तो कुछ लोग पुत्र पैदा न होने के कारण दुःखी हैं, दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो अपने पुत्र के कारण दुःखी हैं। भैया! इस संसार में हमें मनुष्य भव मिला है और यदि हमने अपना जन्म पुत्र की चाहना में ही गंवा दिया तो फिर आत्मकल्याण कब होगा। अपने परमात्म स्वरूप को भूलकर अत्यन्त असार बातों में अनुराग करना योग्य नहीं है। पुत्र की विचित्र कहानी तो आपने सुनी। अब इसी तरह स्त्री के सुख की भी बात विचार लो। स्त्री तो मोह नाम ठग का जाल ही है, ममता को उपजाने वाली, तृष्णा को बढ़ाने वाली है। तथा स्त्री का तीव्र राग धर्म से प्रवृत्ति का नाश करता है। लोभ को उत्पन्न कर के परिग्रह में मूर्च्छा बढ़ाने में कारण है। ध्यान स्वाध्याय में भी विघ्न करै है, पंचेन्द्रिय के विषयों में अंध करने वाली है तथा क्रोधादि चारों कषायों की तीव्रता करने वाली है। संयम का घात करने वाली है। कलह का मूल है, दुर्ध्यान का स्थान है तथा मरण को बिगाड़ने वाली है। इत्यादि अनेक दोषों का मूल कारण जान, स्त्री सम्बन्धी राग में रागी होना भी अयोग्य है। मात पिता से राग, मित्र

जनों से राग—ये सब अप्रशस्त राग हैं तथा ये विषयों में उलझाने में कारण हैं। आजकल के मित्र तो व्यसनों में ही सहकारी होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये कुटुम्बादिक का सब समागम अपने विषय कषायों की स्वार्थ पूर्ति की नींव पर खड़े हुये हैं। सार तत्व कहीं कुछ नहीं हैं। कितना व्यामोह छाया है कि घर में उत्पन्न हुये दो चार लोग तो इसके सर्वस्व हो गये, उन पर सब कुछ न्यौछावर और उनको छोड़कर बाँकी लोग गैर हैं, यों मान लिया जाता है। उन पर निगाह भी नहीं टिकती। जरा मोह को छोड़कर वस्तु स्वरूप का विचार तो करो, सभी जीव अपने आत्मा से अत्यन्त प्रथक हैं। जितने भिन्न कल्पित गैर लोग हैं उतने ही भिन्न कल्पित ये घर के लोग हैं तथा स्वरूप दृष्टि से देखो तो सर्व जीव एक समान स्वरूप वाले हैं। ज्ञानी पुरुषों का 'सत्वेषु मैत्री' वाला स्वभाव इसी यथार्थ ज्ञान के बल से ही तो बन जाता है। जीव मात्र की भलाई का ध्यान, प्राणी मात्र से मित्रता संवेगवान पुरुष के होती ही है। संवेग के लिये सत्यश्रद्धा, विनय-सम्पन्नता, शील सम्पन्नता और विशुद्ध ज्ञानोपयोग कारण होते हैं। वैरी और मित्र का प्रश्न संवेगी के सामने खड़ा नहीं होता, उसके लिये मानों सब मित्र ही मित्र हैं। सर्व जीव एक समान स्वरूप वाले हैं और मुझ से सब अत्यन्त प्रथक हैं ऐसे तत्व ज्ञान के बल पर संसारी जनों से अनुराग नहीं जगता। सब पर समदृष्टि रखते हुये अपने परम वीतराग धर्म में ही अनुराग करना योग्य है। पंच परावर्तन रूप जो संसार अथवा जन्म मरण रूप जो संसार, निरन्तर उससे विरक्त होने की भावना भाना चाहिये। कौन सा जीव इस संसार में सुखी है, निर्धन तो पैसे के अभाव से दुःखी है और धनवान तृष्णा के वश होकर दुःखी हैं। कोई भी जीव इस संसार दशा में सुखी नहीं हैं। संसार की चारों गतियों में संसरण करता हुआ यह जीव दुःख ही दुःख भोगता है। वास्तव में संसार भाव सर्व प्रकार से सार रहित है, उसमें सुख लेशमात्र भी नहीं हैं। जैसा कि पढ़ते ही हैं—

चहुंगति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करैं हैं।
सब विधि संसार असारा, यामें सुख नाहि लगारा॥

परवस्तुओं के प्रति लालसा और मूर्च्छा ही सारे दुःखों का कारण

तोड़ लाओ। पहुंचा वह। चढ़ गया पेड़ पर, एक डाल पकड़ ली परन्तु उसके पैर छूट गये, अब तो वह लटक कर रह गया। इतने में निकला एक हाथी वाला। हाथी वाले से कहा कि मुझे उतार दो तो हम तुम्हें ५००) देंगे। हाथी वाला हाथी पर खड़ा होकर उचककर उसे पकड़ने को हुआ कि हाथी खिसक गया। वह भी उसको पकड़कर लटक गया। निकला एक ऊंट वाला, उससे उन दोनों ने कहा कि हम दोनों ५००-५०० रु० देंगे, उतार लो। ऊंट वाला भी ऊंट पर खड़ा होकर उचक कर उन्हें पकड़ने लगा तो ऊंट खिसक गया, वह भी उनमें लटक गया। अब निकला घोड़े वाला, घोड़े वाले से उन तीनों ने कहा कि हमें उतार लो। हम तीनों तुम्हें ५००-५०० रु० देंगे। वह भी घोड़े पर खड़ा होकर उसे पकड़ने को हुआ तो वह घोड़ा भी खिसक गया और वह भी टंग गया। अब सभी अपने से ऊपर वाले से कहते हैं कि भाई छोड़ना नहीं, हम तुम्हें ५००) देंगे। अरे यह सब क्या है ? ये सब तृष्णा की पीड़ायें हैं, विडम्बनायें हैं। तृष्णा में जो लोभी पुरुष हैं वे जो पास है उसका भी आनन्द नहीं ले पाते। यह तृष्णा भी ऐसी सम्मिश्रित रहती है कि किसी एक बात पर टिकती नहीं हैं। थोड़ी देर में यश की तृष्णा हुई, थोड़ी देर में धन की और फिर थोड़ी देर में परिजन की, भिन्न २ विषयों की। यों तृष्णा के वश निरन्तर दुःख की दुःख पाता है यह जीव। इस तृष्णा रूप अग्नि को बाहरी भोगों के उपायों से शान्त नहीं किया जा सकता। सुख का उपाय तो सम्यग्ज्ञान ही है। इस असार संसार में यदि सार है तो एक निर्विकल्प स्थिति। विषयों से दूर रहकर कुछ क्षण अपना उपयोग अपने अतीन्द्रिय आत्मा में दिया जाये तो आनन्द मिल सकता है। यह मैं जगमग स्वरूप समस्त परवस्तुओं से, पर भावों से न्यारा केवल ज्ञानानन्द मात्र हूं, देह, कुटुम्ब, वैभव सम्पदा, भोग मेरे नहीं। मैं तो केवल अपने जानन देखन भाव से परिणमता हुआ स्वरूप मात्र हूँ। इस प्रकार अपने आपके सम्बन्ध में जब तक निर्णय और भावना न जगे तब तक हमें शान्ति का मार्ग नहीं मिल सकता। बाह्य दृष्टि करके तो भिखारीपन ही भोगना पड़ेगा। विषय भोग तो अग्नि समान दाह के उपजाने वाले हैं, खाज खुजाने वाले की तरह संतापकारी हैं, मृग तृष्णा के

समान ये दुःखप्रद ही होते हैं। विषयों में सुख ढूढ़ने वाला पुरुष उतना ही मूर्ख है जितना कि वह पुरुष, जो छाया लेने के लिये बाँस के वन में बैठे। पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख की बुद्धि छोड़ देना चाहिये क्योंकि इन्द्रिय सुख पराधीन है, बाधा सहित है, विनाशीक है, बंध का कारण है, विषम है, सो ऐसा सुख तो दुःख ही है जैसा कि प्रवचन सार में कहा है—

> "सपरं बाधा सहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विषमं।
> जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुःख मेव तहा॥

अज्ञानी जीव विषय, सुख के साधन हैं ऐसी बुद्धि के द्वारा व्यर्थ ही विषयों का मिथ्या आश्रय करते हैं। आत्मा तो स्वयं सुख स्वभावी है उसमें विषय क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ नहीं, बल्कि बाधक ही होते हैं वे विषय। जैसे जिन प्राणियों की दृष्टि तिमिर नाशक है उन्हें दीपक से क्या प्रयोजन ? इसी प्रकार जब आत्मा स्वयं ही सुख स्वभावी है फिर उसे विषयों से क्या प्रयोजन ? कहा है प्रवचन सार में—

> तिमिर हरा जई दिट्ठी, जणस्य दीवेण णत्थि कायव्वं।
> तह सोक्खं सयमादा, विषया किं तत्थ कुव्वंति॥

जिस प्रकार मदारी के द्वारा बनाये गये लड्डु, पेड़ा आदि अनित्य हैं व अर्थ क्रियाकारी नहीं हैं उसी प्रकार इन्द्रिय विषय भी समझना चाहिये। पंचाध्यायी ग्रन्थ में विषय लम्पटी जीवों को जोंक के समान बताया है, जो विकारी रक्त को ग्रहण करती है और हटाने पर भी नहीं हटती। वहीं चूसती-२ मरण कर जाती है पेट फटने से। इसी प्रकार विषयों के रुचिया जीव अपने पवित्र अतीन्द्रिय आत्मिक सुख का भोग न कर, विकारी जो इन्द्रिय सुख उसका स्वाद लेते-२ ही मर जाते हैं, विषय भोगों से विरक्त नहीं होते। ज्ञान को विपरीत करने वाले, कषाय को बढ़ाने वाले, धर्म से पराङ्मुख करने वाले और नरकादि कुगति के कारण इन विषयों को त्यागना ही योग्य है। सर्प, विष और अग्नि से भी भयंकर ये भोग हैं क्योंकि अनेक जन्मों में ये दुःख भोगने के कारण बन जाते हैं। अतः इस जीव का कल्याण भोगों के परित्याग में ही है। जो पुरुष भोगों को भोगे बिना, स्वीकार किये बिना त्याग देते हैं वे कौमार ब्रह्मचारी तो उत्तम त्यागी हैं ही। जो भोगकर छोड़ते हैं वे भी सच्चा

है। भोगों के त्यागे विना शान्ति नहीं मिल सकती। अपनी विपरीत बुद्धि का ही क्लेश जीवों को है। संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जहाँ रमा जाये। सभी समागमों का वियोग नियम मे होता ही है अतः सम्यक्ज्ञान जगाकर अपनी आत्मा में ही रमण करना योग्य है ऐसा श्रद्धान बनाना और संसार, शरीर, भोगों में आसक्त न होना सो संवेग भावना है।

लोग एक अहाना कहा करते हैं कि १२ वर्ष दिल्ली रहे और झोंका भाड़। भाई कहाँ गये थे? दिल्ली। कितने वर्ष रहे? १२ वर्ष। क्या किया? भाड़ झोंका। अरे भाई अगर तुम्हें भाड़ ही झोंकना था तो यहाँ का गाँव क्या खराब था। यहाँ ही अपने घर में रहकर भाड़ झोंक लेते। इसी प्रकार कहाँ गये? मनुष्य भव में। कितने वर्ष रहे? ६०-७० वर्ष। क्या किया? विषयों का भाड़ झोंका। अरे भाई यदि विषयों का भाड़ ही झोंकना था तो यह पशु पर्याय क्या खराब थी? पशु पर्याय में ही रहते। मनुष्य पर्याय में क्यों आये? इतना उत्कृष्ट मनुष्य भव पाकर यदि हमने विषयों में ही सारा समय गवां दिया तो कुछ न किया। बल्कि सारा नुकसान ही रहा। सोच लो जो बुद्धि बड़ी उम्र होने पर आती है वह बुद्धि यदि जल्दी ही आ जाये तो इस जीव का बहुत भला हो। पर कहाँ, जब बरबाद हो जाते हैं तब समझ में आता है कि ओह कहाँ फंसे रहे, कहाँ चित्त दिये रहे? आत्मा का सार वहाँ कहीं न था। सार मिला तो इस आत्म तत्व में ही। अतः आत्म तत्व की सारभूत बात प्राप्त करने के लिये संसार, शरीर भोगों से विरक्ति होना सो संवेग है। मनुष्य भव की सफलता संसार, शरीर भोगों के परित्याग से ही है। आत्मानुशासन ग्रन्थ में गुणभद्राचार्य ने दृष्टान्त दिया है कि जैसे कोई घुना सांठा हो तो उसको भोगने से यानि खाने से सांठे को भी बरबाद कर दिया जाता है और अपनी जिह्वा भी खराब कर ली जाती है, रोग वेदना उसका फल होता है। सांठे का अन्तिम भाग तो विरस है और मूल भाग कठोर है, भोग के उचित नहीं है। बीच का भाग बचा सो उसमें घुन लग गया है। ऐसे सांठे का भोगना अनर्थकारी है। ऐसे ही जो मनुष्य जन्म है उसे तुम घुने सांठे की तरह जानकर भोगों में मत लगाओ, किन्तु अपने को धर्मसाधना में जुटावो। यदि कोई पुरुष ऐसे सांठे को खाकर बिगाड़ता है तो वह सांठा भी व्यर्थ गया और उसके खाने से अपना मुख भी खराब कर लिया। उसे कुछ लाभ नहीं मिला। यदि उसी सांठे को खेत में बो दिया जाये तो उससे जो नवीन सांठे उत्पन्न होंगे तो

उसका रस भोगने में आयेगा। ऐसे ही इस असार शरीर को सोचो कि इसके बालपन अवस्था में तो रस नहीं, ज्ञान नहीं और वृद्धावस्था में शिथिलता के कारण धर्म कर सकने की शक्ति नहीं। अब बीच की अवस्था में लग गया विषयकषाय का घुन, तो उससे जीवन की बरबादी ही है। और यदि उस युवावस्था को धर्म के लिये समर्पित कर दिया जाये, धर्म खेत में बो दिया जाये तो उसके फल में स्वर्ग और मोक्ष का आनन्द मिलेगा। अतः असार इन्द्रियों और शरीर के सदुपयोग की बात ही चित्त में लाना चाहिये और धर्मानुराग में चित्त लगाकर अपना जीवन-यापन करना चाहिये।

उक्त प्रकार से पुत्र, मित्र, कलत्र, संसार, शरीर और भोगों का स्वरूप जानकर कि ये सब दुःखकारी हैं, असार हैं, उनसे विराग भाव को प्राप्त होना सो संवेग है। भैया अपना ज्ञान विशुद्ध बनावें तो ही हम आपका कल्याण है। अपना ज्ञान स्वरूप ही अमृत है ज्ञान द्वारा ज्ञान स्वरूप का ज्ञानरूप अमृत पान करने से यह जीव नियम से अमर हो जाता है। यह अमृत पान तभी हो सकता है जब संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति हो। वैराग्य होना और ज्ञान स्वभाव में अनुराग होना इस ही भाव का नाम संवेग है।

संसार, शरीर और भोगों से जब वैराग्य जगता है तो परमधर्म में अनुराग होता है। धर्म की चार परिभाषायें बताईं हैं। प्रथम तो जो वस्तु का स्वभाव है सो धर्म है। दूसरी उत्तम क्षमादि दस लक्षण रूप धर्म है। तीसरो रत्नत्रय धर्म है और चौथी जीवों के प्रति दया रखना सो धर्म है। यहाँ ऐसा नहीं जानना कि धर्म कोई चार प्रकार का पृथक-२ है इन सभी परिभाषाओं में धर्म की मूल बात तो एक ही है पर जो जिस प्रकार की योग्यता वाले हैं उनको समझाने के लिये धर्म को उनकी पात्रता और पदवी के अनुसार समझाया जाता है। परमार्थतः जो मेरा स्वभाव है चिन्मात्र, उस चैतन्यस्वरूप का संचेतन करना, समस्त संकल्प विकल्प जालों से मुक्त होना इसको ही धर्म कहते हैं। धर्म कहते हैं उसे, जो दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में धारण करावे। कोई बाहर में है क्या ऐसा परमात्मा जो मुझे सुख में पहुंचा दे? कोई नहीं है। भगवान की भक्ति का तो इतना ही बड़ा लाभ है कि भगवान के शुद्ध स्वरूप को निहारने से, विषय कषायों की विपदा दूर होती है और अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का परिचय मिलता है। तो स्वयं में जो धर्म भाव

जगा, वह ही दुःखों से छुड़ाकर, उत्तम सुख में धारण करने वाला है। प्रभु तो उसमें निमित्त हैं। तो विषयों से विरक्त होकर धर्म में अनुराग जगाना सो संवेग है। पुराणों में वर्णित तीर्थंकर होना, चक्रवर्ती होना, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्रादिक शलाका पुरुषों में उत्पन्न होना सो भी धर्म का फल है। वास्तव में तो ये धर्म के फल नहीं किन्तु जो धर्म के साथ-२ रहने वाला प्रशस्त राग है उस राग के फल हैं। धर्म तो मुक्ति का ही कारण है, बंधन का नहीं। किन्तु धर्मात्मा के जो रागान्श चलता है भक्ति का, अनुराग का, दया का उस शुभराग के फल से उसे संसार के चमत्कार और ठाठ प्राप्त हो जाते हैं। जैसे किसान अनाज प्राप्त करने के लिये खेती करता है परन्तु उस खेती में भुस अनायास ही बड़ी विपुल राशि में प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी पुरुष की मिले हुये चमत्कारों में आस्था नहीं किन्तु अपने प्राप्त ज्ञानानन्द की स्थिति में ही आस्था है। मेरा आनन्द बाह्य विषयों में है ही नहीं। मेरा रंच भी हित नहीं संसार, शरीर और भोगों के ठाठ में, ऐसा अपने निज धर्म में अनुराग जगना सो सम्वेग है। अपने चित्त से यह श्रद्धा हटाओ कि ये धन वैभव ही मेरे, सब कुछ हैं अरे ये तो सब धूल की तरह हैं, मुझ से भिन्न पुद्गल हैं; इनमें कुछ तत्व नहीं हैं। तत्व तो संवेग भावना के आदर में है अपने सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्व की रूचि में है। ऐसी रूचि के धारी जब साधर्मीजन मिलते हैं इस संवेगी पुरुष को, तो यह उस क्षण को धन्य मानता है और उनको देखकर प्रमोद भाव होता है। ये भी रत्नत्रयधारी, संसार, शरीर, भोगों से विरक्त मोक्षमार्गी हैं ऐसे ख्याल से वह उल्लास को प्राप्त होता है। इस प्रकार धर्म में, धर्म के फल में और धर्मात्मा जनों में अनुराग होना तथा संसार, शरीर, भोगों से अलग रहना सो संवेग है। इस संवेग भावना से ही आत्मा का हित है, ऐसा निर्णय करके इस भावना के अधिकारी हम बनें, ऐसा यत्न करना चाहिये ताकि संसार के संकटों से मुक्त हो सकें।

शक्ति प्रमाण त्याग

अभी तक तीर्थंकर प्रकृति के बंधकी कारणभूत ५ भावनाओं की चर्चा हुई। अब छठी भावना का वर्णन चलेगा। इस भावना का नाम है शक्तितः त्याग। यानि शक्ति के अनुसार त्याग करने की भावना रखना। अनादि काल से यह जीव स्व को भूलकर परद्रव्य को अपना मानकर उन्हीं परद्रव्यों को ग्रहण करता आया है। इसे स्वस्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ इसी कारण इसकी रुचि परद्रव्यों के ग्रहण की बनी हुई है। स्व का ज्ञान होने पर इसे पर से अरुचि हो जाती है और तब यह पर का त्याग करने की ओर उत्साहित होता है। इसे जितने क्लेश हैं वे सब पर पदार्थ के ग्रहण से ही तो हैं। पर के ग्रहण से ही तो आज तक इसे सुख नहीं मिला। इसने अज्ञान से ईंट पत्थरों के मकान को अपना घर समझा, पुद्गल जड़ पदार्थों को अपना धन-वैभव समझा, विवाह किया, स्त्री परिग्रह को अपना माना, पुत्र हुये, मित्र गोष्ठी बनाई, यहां के लोगों से इज्जत चाही आदि परद्रव्य और परभावों को ये अपना मानता आया और उनको ग्रहण करके सुख की भ्रान्ति की, जबकि हमेशा दुःख ही दुःख मिलता आया है। सुख शान्ति तो त्याग में है, त्याग से ही शान्ति मिलती है। दुःखदायक वस्तुतः स्वयं का अज्ञान भाव, मूर्च्छा भाव और परद्रव्य को ग्रहण करने का भाव ही तो है, इस अज्ञान भाव का त्याग करें और मूर्च्छा के आश्रयभूत जो परद्रव्य हैं उनका त्याग करने की भावना बनायें तो जीवन में शान्ति मिलेगी। त्याग की बात सुनकर सब दम त्याग बैठते हैं, पर यह नहीं जानते कि त्याग प्राणी मात्र का जीवन है। हम त्याग करके ही जीवित रह सकते हैं, त्याग करते रहना आवश्यक है। देखो यदि नदी वर्षा के जल का संचय ही करे और प्रवाह के रूप में उसका समुद्रों को तथा मार्ग में पड़ने वाले खेतों को त्याग न करे तो उस संचय से उसका पेट फूल जायेगा और फट जायेगा। जन, धन की हानि होगी। इसी प्रकार सूर्य की ओर देखो यदि यह सूर्य भी अपनी अनन्त किरणें प्रतिक्षण त्याग कर लोक को प्रकाश ताप न दे तो संसार शीत से ठिठुर कर मर जायेगा। इसी प्रकार मनुष्य भी यदि स्वार्थी होकर त्याग न करे और परिग्रह का संचय संवर्धन ही करता रहे तो वह तो दुःखी रहेगा ही, समाज और देश को भी दुःखी करने में कारण होगा। विषमता बढ़ेगी और संतुलन बिगड़ जायेगा।

अतः त्याग करते रहना आवश्यक है परन्तु वह शान्ति के उपाय का उद्यम करता नहीं। परवस्तु के परिग्रहण का ही भाव निरन्तर रख के दुःखी बन रहा है। देखो जब पेट में कब्ज हो जाता है, मल का संचय हो जाता है तो उसको दूर करने के लिये एनिमा या जुलाब लेते हैं, गन्दगी पेट में बनी रहे, साफ न की जाये तो रोग पैदा हो जाते हैं या किसी स्थान पर गन्दगी पड़ी हो, तो उसे भंगी से साफ करा देते हैं। यदि साफ न कराई जाये तो वह गन्दगी और सड़ जाती है। उससे दुर्गन्धि फैलती है, रोग फैलते हैं। इसी प्रकार आत्मा में मिथ्यात्व राग, द्वेष कषाय आदि का जो मल इकट्ठा हो गया है उसी के कारण जीव को कभी सुख शान्ति नहीं मिली। इसलिये सुख शान्ति के लिये द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म रूप मलों का त्याग करना आवश्यक है। जब तक यह आत्मा अपना अभिप्राय निर्मल नहीं करेगा, मिथ्यात्व और विषय कषायों आदि विभाव भावों का बोझ लिये रहेगा तब तक उस बोझ के कारण दुःखी ही रहेगा। आत्मन् ! तू अंतरंग से स्वच्छ चित्त होकर अपने आप में से सभी विभाव भावनाओं को हटा दे। वास्तव में त्याग तो अपने विभाव भावों का ही करना है। बाह्य पदार्थों को तो यह जीव ग्रहण हो नहीं कर सकता है। तो जिसको यह ग्रहण नहीं किये हुये है उसका त्याग तो इसके है ही, वे परद्रव्य तो छूटे हुये ही हैं, आत्मा तो उनसे भिन्न है ही। हां उन पर पदार्थों के प्रति जो ममता है, आसक्ति है। ये पर पदार्थ मेरे हैं और मैं इन पर पदार्थों का हूँ ऐसा जो अज्ञान भाव है, मिथ्या प्रतीति है उसका त्याग करना है। अपने आपके अंतरंग में जो विषय कषायों की इच्छा का परिग्रहण किये हुये हैं उसका त्याग करने वाला ही त्यागी कहलाता है। जो अन्तरंग की अभिलाषाओं का त्याग नहीं करता वह घर छोड़कर, वस्त्र छोड़कर, त्यागी मुनि बनकर भी शान्ति नहीं पाता। वास्तविक त्याग करें और फिर शान्ति न मिले ऐसा नहीं हो सकता। शक्तितः त्याग भावना में यह बात कही जा रही है कि यदि आत्महित की इच्छा है तो अपनी शक्ति को न छिपाकर पूर्ण बल के साथ जीवन में त्याग धर्म की साधना करो। परमार्थ रूप शक्तितः त्याग की भावना और साधना से नियम से संकटों का विनाश होता है।

अरे जीव पर संकट, सब इसके मिथ्या विचारों और कल्पनाओं से ही तो बने हुये हैं। बाहर से कोई कुछ भी उपद्रव नहीं कर रहा है परन्तु यह अज्ञानी जीव यथार्थ ज्ञानवृत्ति के अभाव में अपने मिथ्या भावों

की ग्रहणता से ही दुःखी बना हुआ है। भैया ! बाह्य वस्तुओं को अपना मान लेना यह तो है ग्रहण और बाह्य वस्तुओं को अपना न मानना, उनसे अत्यन्त भिन्न अपनी आत्मा को जानना यह है त्याग। जब शरीर ही अपना नहीं तो फिर धन, वैभव, स्त्री, पुत्रादि रूप जो चेतन अचेतन परिग्रह हैं वे इसके कैसे हो सकते हैं ? यह मैं तो आकाशवत, अमूर्त, निर्लेप शुद्ध ज्ञान मात्र हूँ ऐसा श्रद्धान और ज्ञान बनाने से ही त्याग भावना होती है। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह से ममता का त्याग करें तो शान्ति मिलती है। अंतरंग परिग्रह १४ प्रकार का है मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद। इन सबमें मिथ्यात्व परिग्रह मूल है संसार के दुःखों का। जहाँ स्व पर का भेद ज्ञान नहीं है ऐसी अज्ञान अवस्था का नाम है मिथ्यात्व। शरीरादिक परद्रव्यों में आत्म बुद्धि करना सो मिथ्यात्व नाम का परिग्रह है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप मात्र है उस वस्तु का जो द्रव्य, गुण, पर्याय है वही उस वस्तु का स्वरूप है, सर्वस्व है जैसे स्वर्ण को लें। सो सोना तो द्रव्य है, पीतादिक उसके गुण हैं और कुण्डलादि उसकी पर्याय हैं सो यह समस्त स्वर्ण ही है। स्वर्ण अन्य वस्तु का नहीं और अन्य वस्तु स्वर्ण की नहीं। स्वर्ण है सो स्वर्ण का ही है। कोई एक वस्तु दूसरी वस्तु की आज तक हुई नहीं, है नहीं और कभी होगी नहीं। जो वस्तु का अपना स्वरूप है वह ही उसका स्व है वह उस ही का स्वामी है। जैसे आत्मा है सो आत्मा का जो द्रव्य गुण पर्याय है वही उस आत्मा का स्व है और आत्मा उसी अपने स्वरूप का स्वामी है। आत्मा का अन्य कोई दूसरा द्रव्य नहीं है दूसरे द्रव्य के त्याग का स्वभाव रखने वाला ही है आत्मा तो। परन्तु त्यागमूर्ति निज आत्म तत्व के आदर बिना इस जीव ने अपने आपको नहीं जाना और अपने को कीड़ा, मकोड़ा, पशु, पक्षी आदि जिन-जिन कर्मकृत विनाशीक परद्रव्यकृत पर्यायों में रहा उन रूप से अपने को माना, जो पौद्गलिक विशेषतायें हैं उनको आत्मबुद्धि रूप से ग्रहण किया वे ही सब परिग्रह हुये—मैं बलवान हूं, धनी हूं, निर्धन हूं, गोरा हूं, काला हूं, लम्बा हूं, ऐसा ज्ञानी हूं, ऐसी उज्ज्वल आत्मा हूं, मनुष्य हूं,

आदि कितनी ही उस जीव ने मिथ्या कल्पनायें की हैं। इसी मिथ्या दर्शन से ही मेरा घर, मेरा पुत्र, मेरा राज्य, मैं ऊंच, मैं नीच आदि समस्त परपदार्थों को ग्रहण किया। उस पुद्गल के नाश से अपना नाश माना, उसके घटने से अपना घटना और उसके बढ़ने से अपना बढ़ना आदि पर्यायों में आत्मबुद्धि करके अनादि काल से अपने आत्मा को भूल रहा है। मूल में देखो तो यह एक ज्ञान शक्ति का पिण्ड है। अन्तर में जो मिथ्यात्व का बोझ लादा है उस बोझे को फेंककर सूक्ष्म से सूक्ष्म बनकर केवल ज्ञान प्रकाश मात्र अपने को अनुभव कर सकें तो जान सकेंगे कि कोई परपदार्थ अथवा कुछ भी परभाव तेरे स्वरूप का नहीं है तू तो बिल्कुल सूना है और भरा पूरा भी इतना अधिक है कि तू विज्ञान घन है। तेरे आत्मक्षेत्र में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं जो ज्ञान और आनन्द से रिक्त हो। जिस ज्ञानी पुरुष के ऐसा अपना वास्तविक स्वरूप दृष्टि में आता है वह परद्रव्यों में 'हमारा' ऐसा कहता हुआ भी परद्रव्यों में कभी भी आत्मबुद्धि नहीं करता। अतः अपने चैतन्य स्वरूप आत्म तत्व की प्रतीति कर उसी को अपने उपयोग में बसाना और समस्त असत्य कल्पनाओं को छोड़ना, यही है मिथ्यात्व परिग्रह का त्याग करना। समस्त परिग्रह में आत्मबुद्धि का मूल यह मिथ्यात्व नाम का परिग्रह ही है।

अपने परिणाम में रोष कर तप्त होना सो क्रोध परिग्रह है। तथा उच्च, कुल, जाति, धन, ऐश्वर्य, रूप, बल, ज्ञान, बुद्धि आदि से अपने को अधिक जान मद करना, दूसरे को तुच्छ जान निरादर करना, कठोर परिणाम रखना सो मान परिग्रह है। अनेक कपट छलादिक रूप वक्र परिणाम रखना सो माया परिग्रह है और परद्रव्यों के ग्रहण में तृष्णा सो लोभ परिग्रह है।

हास्य में आसक्त होना सो हास्य परिग्रह है। पंचेन्द्रियों के वाञ्छित भोग-उपभोग के भोगों में लीन हो जाना सो रति परिग्रह है। अनिष्ट-वस्तु के संयोग में, परिणाम में संक्लेश रूप होना सो अरति परिग्रह है। तथा अपने इष्ट स्त्री, पुत्र, धनादिक का वियोग होने पर उनके संयोग की वान्छा करके संक्लेश रूप होना सो शोक परिग्रह है। अपने मरण का, परिग्रहआदिक के वियोग का निरन्तर भय करना सो भय परिग्रह है। और घृणित पदार्थ के देखने, सुनने, चिन्तवन करने, स्पर्श करने से परिणाम में ग्लानि उपजना सो जुगुप्सा नाम का परिग्रह है। तथा वेद

के उदय से स्त्री पुरुषों में, जो काम सेवन के परिणाम होते हैं उन काम में तन्मय होकर काम के भाव को आत्म भाव मानना सो वेद परिग्रह है। इस प्रकार ये १४ प्रकार के अंतरंग परिग्रह संसार भ्रमण के कारण हैं, आत्मा के ज्ञानादिक गुणों के घातक हैं ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष इनका त्याग कर देता है।

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड ये १० प्रकार के वाह्य परिग्रह हैं सो अन्तरंग मूर्च्छा भाव के कारण ये वाह्य परिग्रह हैं। वाह्य परिग्रह दरिद्री के नहीं देखे जाते परन्तु अंतरंग मूर्च्छा का त्याग न होने से वह भी परिग्रही ही है। इन दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग का उद्यम ज्ञानी पुरुष अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर करता है। इन दोनों प्रकार के परिग्रह का एक देश त्याग तो श्रावक के होता है और सर्व देश त्याग साधुओं के होता है।

मनुष्य जन्म की शोभा त्याग से ही है। जिनके पास जितना जो कुछ परिग्रह है उस परिग्रह के सम्बन्ध से क्या हाल हो रहा है ? अन्तरंग में कितनी आकुलता, क्षोभ, भय आदि मचाये रहते हैं सो स्वयं सोच लो कि परिग्रह शान्ति का कारण है कि अशान्ति का कारण है। जब तक अंतरंग में मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ इन विषयकषायों के परिग्रह का त्याग नहीं होता तब तक इस जीव को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। वास्तविक त्याग तो आभ्यतर विषय कषायों का त्याग ही है लेकिन ऐसा नहीं समझना यहाँ कि केवल भीतर का त्याग चाहिये, बाहर का त्याग हो चाहे न हो, वाह्य परिग्रह का त्याग भी करना होगा। हालांकि जो भीतर से त्याग करेगा वह बाहर का ग्रहण क्या करेगा ? अंतरंग राग द्वेष रूप परिणामों की उत्पत्ति में आश्रयभूत कारण होने से ज्ञानी पुरुष दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करता है। मनुष्य अवस्था में परिग्रह का परिमाण नहीं है तो तृष्णा का प्रसार बढ़ता है और तृष्णा के रोग से ग्रस्त होकर वर्तमान में भी जो कुछ मिला है उससे सुख नहीं पाया जा सकता, क्योंकि दृष्टि तो भविष्य की ओर लगी रहती है कि इतना और बन जावे, ये और मिल जावे। इसलिये विषयों को त्यागें, परिग्रह का परिमाण करें, अपने को अंतरंग में ज्ञानमात्र अनुभव करें और धर्म चर्चा में समय बितावें तभी मनुष्य जन्म प्रशंसा के योग्य होता है। सोचो अन्य तीन गतियों में तो मनुष्य गति की तरह त्याग धर्म की योग्यता ही नहीं। जहाँ तो [illegible]

बन, जीव मुक्ति का अधिकारी भी अल्प काल में ही बन सकता है अतः त्याग रूप बुद्धि बनाकर मनुष्य जन्म को सफल करना चाहिये।

त्याग बिना किसी का उद्धार नहीं होगा। चाहे कोई कभी भी त्याग मार्ग पर बढ़े पर कल्याण होगा त्याग से ही। जब तक त्याग नहीं करता है तब तक विपत्तियों में ही तो रहेगा। जैसे किसी पक्षी को कोई भोजन मिल जाये, कोई टुकड़ा मिल जाये तो उस पर अनेक पक्षी टूट पड़ते हैं वह पक्षी परेशान हो जाता है। अरे वह पक्षी जो ग्रहण किये हुये है उसे त्याग दे तो एक पक्षी भी इसे खाने को न आयेगा। इसी प्रकार मोही मनुष्य अपने परिणामों में बाह्य वस्तुओं को पकड़े हुये हैं और आकुल व्याकुल बने हुये हैं यदि मूर्च्छा भाव रूप जो परिग्रह उसे छोड़ दें तथा बाह्य पदार्थों का त्याग करके आत्म साधना करें तो सुखी बन जायें।

यह जीव कभी अशुभ प्रवृत्ति करता है कभी शुभ प्रवृत्ति करता है दोनों ही इसके लिये भार बनी हुई हैं, जब अशुभ में प्रवृत्त होता है तो इसके परिणाम में रौद्रता रहती है। किन्तु जब शुभ प्रवृत्ति करता है तो पुण्य संचय कर लेता है। उस पुण्य संचय का उदय होने पर अच्छी गति, धन, रूप, वैभव सब मिलता है। किन्तु यह उस वैभव को, रूप को, कुल को पाकर उस पर अभिमान करने लगता है, ऐश्वर्य में इतराने लगता है, आत्मा को भूलकर पाप के मार्ग में पड़ जाता है। इस प्रकार यह जीव शुभ और अशुभ दोनों का ही बोझ उठाये फिरता है इस बोझ के कारण इसे नाना प्रकार की आकुलतायें रहती हैं, नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं, यह बोझा उतारे तो इसे राहत मिले। इन शुभ अशुभ प्रवृत्ति के त्याग में ही यह शाश्वत सुख का अधिकारी बनता है। त्याग का अर्थ ही है कि परपदार्थ और परभाव के ग्रहण त्याग रूप समस्त पुण्यादि पापादि के शुभाशुभ भावों से प्रथक अपने आत्म स्वभाव की ओर दृष्टि होना। परपदार्थ और परभावों का निषेध वर्तना। जब भेद विज्ञान के बल से परपदार्थों में परबुद्धि हो जाती है तो तुरन्त ही उनके प्रति ममता छूट जाती है और त्याग भाव आ जाता है। प्रायः दान और त्याग को एक ही मान लिया जाता है परन्तु दान का स्वरूप त्याग से भिन्न है। वैसे दान करना त्याग का ही अंग सा है और दान करना और कराना भी अच्छी बात है परन्तु दोनों का स्वरूप दृष्टि में रहना चाहिये। आचार्य उमास्वामी

ने दान का लक्षण किया है कि—'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानं' अर्थात् अनुग्रह के लिये अपने द्रव्य को देना दान है। दातार को दान में कई अपेक्षायें होती हैं जैसे दान में दी गई वस्तु जिस उद्देश्य से दी जाती है उसी में उसका सदुपयोग हो, जिस मद में द्रव्य दिया है उसी मद में लगे तथा दान में दी हुई वस्तु का लेखा जोखा भी होता है क्योंकि उसने दान किया है त्याग नहीं। इस प्रकार दान और त्याग में अन्तर है 'दान' शुभ भाव है अतः पुन्य है। 'त्याग' शुद्ध भाव है अतः धर्म है। दान का मुख संसार की ओर, त्याग का मुक्ति की ओर है। दान परद्रव्य में ममत्व बुद्धिपूर्वक होता है और त्याग परद्रव्य में परत्व की बुद्धि से होता है। दान के लिये धनादि परद्रव्य की आवश्यकता होती है जबकि त्याग के लिये अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं। एक रंक भी करोड़ों का त्याग कर सकता है। दानी वैभव सम्पन्न होता है, त्यागी नग्न दिगम्बर। दान भला जानकर किया जाता है और त्याग पर में हेय बुद्धि से होता है अर्थात् बुरा जानकर होता है। दान ज्ञान का भी होता है त्याग विकार का होता है। दान की सीमा से त्याग असीम है। दान में कितना दिया यह हिसाब रखा जाता है परन्तु त्याग में कितना रखा यह हिसाब रखा जाता है। दान सदा परवस्तु का होता है परन्तु उसमें अपनत्व होता है और त्याग पर का नहीं अपने ही विकारी भाव राग द्वेष मोह का होता है परन्तु उन्हें पर जानकर होता है।

इस प्रकार दोनों का अन्तर स्पष्ट जानकर जब तक परिपूर्ण त्याग करते न बनें, तब तक ग्रहस्थ को जीवन में दान का महत्व नहीं भुलाना चाहिये और ग्रहस्थ अवस्था में अपनी शक्ति के अनुसार दान करते रहना चाहिये। दान करना यह भी एक प्रकार का त्याग है। मोही जीव को दान करने में उत्साह नहीं जगता। दान करने से उदारता बनी रहती है, लोभ कषाय भी मंद होती है। श्रावकों के करने योग्य ४ प्रकार के दान कहे गये हैं—आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदान और अभयदान। अन्य प्रकार से दान के दो भेद भी हैं एक निश्चयदान और दूसरा व्यवहार दान। निश्चय से जिससे आत्मा की पुष्टि हो वही आत्मा का आहार है और आत्मा स्वाश्रय से ही पुष्ट होता है अतः आत्मा की समझ और आत्म स्थिरता ही निश्चय से आत्मा का आहार दान है और उस आत्म स्थिरता का निमित्तभूत देह को आहार पानी देना सो व्यवहार से आहार दान है। अविरत सम्यग्दृष्टि उत्तम पात्र,

देशव्रती जन मध्यम पात्र और मुनिजन उत्तम पात्र हैं। ऐसे पात्रों को ४ प्रकार का दान करना, यही है मोक्ष मार्ग विषयक दान या त्याग। त्याग भावना में शक्तितः त्याग व दान करते हुये बड़ा विवेक होना चाहिये। हम पात्र को आहार दें तो ऐसा दें कि उनका शरीर स्वस्थ रहे ताकि वे स्वाध्याय और संयम में सावधान रह सकें। स्वाद दिलाने या खूब पकवान खिलाने का प्रयोजन नहीं होना चाहिये।

शास्त्रदान या ज्ञानदान से बढ़कर तो किस दान को कहा जाये? जिस दान के प्रताप से अज्ञानांधकार मिटता है और ज्ञान प्रकाश होता है जिससे संसार के बंधन अनन्त काल तक के लिये छूट जाते हैं। निश्चय से तो अपनी वर्तमान मतिज्ञान पर्याय को स्वरूप सन्मुख करके ध्रुव स्वभाव को समर्पित करना सो ज्ञानदान है और ध्रुव स्वभाव की समझ के हेतू भूत सत शास्त्र आदि ज्ञान के उपकरणों को प्रदान करना सो व्यवहार से ज्ञान दान है। ज्ञान का दीपक सदा जलता रहता है अतः ज्ञान दान ही सर्वश्रेष्ठ है। औषधिदान और अभय-दान भी प्रयोजनीय हैं। जन्म जरा मरण के रोगों से मुक्ति दिलाना ही सच्चा औषधिदान हैं और धर्मसाधन की निमित्तभूत देह के लिये शुद्ध औषधि देना व्यवहार से औषधिदान है। तथा आत्म ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को सप्त भय से मुक्त करना ही निश्चय से अभयदान हैं और धर्मात्मा जीवों को वसतिका आदि बनवाना व्यवहार से अभयदान हैं। सूअर अभयदान (मुनि रक्षा) की भावना के कारण ऋद्धिधारी देव बना और सिंह मुनिघात के परिणाम से नरक में गया।

पापों से बचने के लिये और धर्म की प्राप्ति निमित्त, ज्ञानी पुरुष जब तक ग्रहस्थावस्था में रहते हैं बराबर त्याग की (दान की) प्रवृत्ति रखते हैं। परन्तु मान कषाय के पोषण का, दिखावा, प्रदर्शन का या अपना नाम करने का प्रयोजन दान में नहीं रखना चाहिये और अपात्र में भी द्रव्य का दुरूपयोग नहीं करना चाहिये। दान में विवेक से काम लेना आवश्यक है।

श्रावक अपने परिग्रह का प्रमाण करके और पाये हुये समागम को दान, परोपकार में वितरण करके धर्म की ओर अपनी दृष्टि बढ़ाये यही है उसकी शक्तितःत्याग भावना। त्याग से ही धनधन्यादिक पाने की सफलता है। जिस घर में त्याग की, दान की भावना नहीं होती वह तो श्मशान के समान है। और फिर सोचो धन की तीन ही तो

गति हैं दान, भोग और नाश। जो मनुष्य अपने धन को दान और भोग में खर्च नहीं करता है उस का धन अवश्यमेव नष्ट होता है। कुयें से हमेशा जल निकलते रहने से कुयें का जल साफ रहता है और यदि जल निकलना बंद कर दिया जाये तो पानी सड़ने लगता है, बदबू आने लगती है। इसी प्रकार धन का सदुपयोग उक्त ४ प्रकार के दानों में करते रहने से ग्रहस्थ जीवन में निर्मलता रहती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

> यदि इच्छा है धन रक्षा, तो धनवानों बनो दानी।
> कुयें से जल न निकलेगा, तो सड़ जायेगा सव पानी॥

और भी सोचो धन संचय कब तक करते रहोगे? धन संचय करना तो ऐसे है जैसे कि कोई नाव में पत्थर डालता चला जाये। ऐसी नाव नियम से डूबेगी। अतः दान के विना, त्याग के विना धन संचय का कोई लाभ नहीं, प्रत्युत दुर्गति का ही कारण बनेगा। परिग्रह का संचय करके जो पाप किया है उसका प्रायश्चित दान द्वारा ही होता है। देखो वृक्ष जब माठे फलों से लद जाते हैं तो वे निर्लोभ होकर उनका दान कर देते हैं। अतः जिसके पास जो कुछ है वह संचय से नहीं, त्याग से शोभा पाता है। जीवन में जिसको त्याग का अभ्यास है वह मरते समय सब कुछ शान्ति से छोड़ सकता है उसके परिणाम निर्मल रहते हैं उस समय उनका आयु बंध हो तो, शुभ गति का ही होता है। और जिन्हें त्याग का जीवन में अभ्यास नहीं है वे मरते समय तक मोह नहीं छोड़ पाते और बड़े संक्लिष्ट परिणामों से मरते हैं। दुर्गति का बंध करते हैं। मनुष्य जन्म पाकर बुद्धिमानी तो इसी में है कि जो छोड़ना पड़ेगा, उसे पहिले ही छोड़ दिया जाये। यदि सर्व त्यागी न बन सकें तो अपने द्रव्य में से बराबर दान करते रहना चाहिये। ग्रहण में दुःख है, ग्रहण से त्याग में आवें तो शान्ति का पता चले—उल्लू प्रकाश को क्या जाने?

दीन दुखियों को, रोगियों को भी अनुकम्पा के भाव से दान करना चाहिये। गरीबों की, अंधों की मदद करें, स्कूल, धर्मशालायें, औषधालय खुलवायें। यदि सभी शक्ति अनुसार थोड़ा-२ त्याग करें तो हमारे देश की बहुत सी समस्यायें हल हो सकती हैं। जोड़ने वाले डूबते हैं और छोड़ने वाले तिर जाते हैं।

सप्त व्यसनों का त्याग, मद्य, मांस, मधु का त्याग और भी अभक्ष्य पदार्थों का त्याग, अनीति का त्याग, पंच पापों का त्याग करना चाहिये। त्याग से अपने जीवन को पवित्र बनाना चाहिये। पवित्र संस्कार ही जीवन का संस्कार है। भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक सुसंस्कारिता के लिये परमावश्यक है। आजकल लोग व्रत, संयम आदि सात्विक गुणों की अवहेलना करते हुये जिस तिस पदार्थ का भक्षण करते हैं किन्तु सत्य तो यह है कि शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता पर ही विचारों की पवित्रता निर्भर करती है। धर्म और पशु की रक्षा के लिये चमड़े का त्याग करना चाहिये।

भ० महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर उनकी वाणी का प्रचार और प्रसार होवे इस हेतु साहित्य प्रकाशन में धन देना चाहिये। तथा मिथ्यात्व का, अन्याय का, कषायों का, इन्द्रिय विषयों का त्याग कर जीवन को पवित्र बनाना चाहिये। यह श्रावकों के एक देश त्याग की बात कही। साधु तो सर्व त्यागी होते हैं वे सभी आरम्भ परिग्रह के त्यागी होते हैं वे जगत के कल्याण की कामना करते हुये सदा करुणा दान करते रहते हैं। वाह्य पदार्थ तो उनके पास कुछ है नहीं किन्तु उनके पास जो आन्तरिक धन है—रत्नत्रय है उसे वे दूसरों को—जगत को लुटाते हैं वे चाहते हैं कि यह अमूल्य रत्नत्रय हर प्राणी को मिल जाये। इस प्रकार वे महादानी हैं। इसलिये बोलते हैं पूजन में—

तुम सा दानी क्या कोई हो, जग को दे दी जग की निधियां।
दिन रात लुटाया करते हो, सम-सम की अविनश्वर मणियाँ॥

तीर्थंकर अरहंत तो सबसे बड़े दानी हैं जो जगत के जीवों को कल्याण का दान देते हैं। वे सबसे बड़े दानी इसलिये हैं क्योंकि वे सबसे बड़े त्यागी हैं उन्होंने तो आत्मा के कर्म मल का भी त्याग कर दिया है।

संसार में त्यागी ही महान होता है, दूसरा नहीं। अतः यथाशक्ति त्याग, धर्म का निरन्तर अभ्यास करना सो शक्तितः त्याग नाम की भावना है।

'नेकी कर कुये में डाल' यह कहावत त्याग का पाठ दे रही है। दान के पीछे त्याग की भावना होना परमावश्यक है। दान करके,

उपकार करके हमें उस उपकार को फिर स्मरण भी नहीं करना चाहिये। उपकृत करे तो करे और वह तो करता ही है। यदि दान के पीछे त्याग की भावना न हो तो दान हमें पकड़े रहता है इसलिये दान देकर हम हलके तो जरूर होते हैं पर स्वतंत्र नहीं हो पाते। दान से पुण्य संचय होता है पर पुण्य संचय की ओर ज्ञानी जीव की दृष्टि न जाकर त्याग की ओर जाती है। मनुष्य जीवन पाकर हमें परोपकार की, दूसरों की मदद, उपकार करने की भावना रखनी ही चाहिये। छोटे-२ उपकारों का मूल्य भी वहुत होता है भले ही उसे उपकारी न जाने जैसे कि रेल में मुसाफिरी करते वक्त आप किसी को पानी पिला देते हैं या और कोई छोटा-मोटा उपकार जैसे वैठने के लिये जगह दे देना या सोने के लिये जगह वना देना या ओढ़ने के लिये कपड़ा दे देना, यह कर देते हैं, आपको यह याद नहीं रह सकता, पर सम्भव है उसे उपकृत उमर भर न भूले, क्योंकि पता नहीं उसे जव पानी मिला, वह कितना प्यासा था, उसे जव जगह मिली, वह कितना थका हुआ था या कितना घवराया हुआ था, उसे जव सोने का स्थान मिला तो वह कितना नींदा सा था, उसे जव ओढ़ने को कपड़ा मिला तो वह सर्दी से कितना कांप रहा था। तो उपकार का मूल्य उपकारी क्या जाने। त्याग करके याद दिलाने पर भी याद न आये वह त्याग है।

सच्चे त्याग का फल असीम होता है। एक कथा है—"एक सेठ दान करते-२ गरीव हो जाता है। पर वह अपने दिये हुये दान का पूरा लेखा रखता है। गरीवी उसे अपना दान वेचने को तैयार कर देती है। एक सेठ उसके वहीखातों के वदले में वहीखातों के वजन के वरावर स्वर्ण देने को तैयार हो जाता है। वहियां तोली जाती हैं। एक वही ऐसी निकलती है जिस पर कितना ही सोना चढ़ाया जाता है पर पलड़ा उठता ही नहीं। आखिर उस वही में से पन्ने फाड़ फाड़कर वजन कम किया जाता है। फिर भी वही का भारीपन तनिक भी हलका नहीं होता। आखिर एक पन्ना ऐसा फटता है कि उसके फटने पर वही का वजन उतना ही रह जाता है जितने कि उनमें पन्ने थे। अव यह होता है कि खरीदने वाला सेठ सिर्फ उस पन्ने को चाहता है और जितना सोना दे चुका वह तो दे ही चुका। सारी वहियां भी वापिस करता है। पर वेचने वाला सेठ आधा सोना वापिस करने को तैयार है, सौ सोना वापिस करने को तैयार, पर उस पन्ने को वेचने को तैयार नहीं।

मामला बहुत बढ़ता है, लोग इकट्ठे हो जाते हैं। अंत में उस पन्ने का हिसाब पढ़ा जाता है। उसमें बहुत से दानों का हिसाब था, अनोखा दान एक ही था और वह यह था कि एक दिन पत्नी और उसके सभी बच्चे बहुत भूखे थे किसी तरह मजदूरी करके बिगड़े हुये सेठ इतना अन्न ला सके कि जिससे मोटी दो रोटी तैयार हो सकें। सेठानी ने पीस पास कर दो रोटियाँ तैयार कीं। खाने को बैठे तो क्या देखते हैं कि एक नयी जनी हुई कुतिया भूख से अपने बच्चे को खाने पर उतारू हो गयी। सेठ को दया आ गई। उसने दोनों रोटियाँ कुतिया को डाल दीं। बस उस पन्ने में उन्हीं दो रोटियों का जमा खर्च था। कथा की सचाई-झुठाई से हमें कुछ नहीं लेना। यहाँ तो हमें इतना ही जानना है कि सच्चा त्याग इतना फल लाता है, कि जिसका न हिसाब रखा जा सकता है, न वह समेटा जा सकता है।

किये हुये त्याग को याद लाना उसको हल्का करना है, अब तक के किये हुये पर पानी फेरना है, त्याग तो वही त्याग है जो याद न रहे। देखो माँ बच्चे पर न जाने कितने उपकार कर जाती है इसी प्रकार पिता भी, पर क्या वे उन्हें याद रहते हैं? नहीं। वे इस तरह के उपकार भुलाते नहीं, भूलते रहते हैं। शायद वे उपकार उनकी स्मृति पर अंकित ही नहीं हो पाते। इसी बात को किसी कवि ने कहा है:—

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः, परोपकाराय वहन्ति नद्यः" यानि परोपकार के लिये ही पेड़ फल देते हैं, परोपकार के लिये ही नदियाँ बहती हैं। पेड़ फल त्यागते हैं वे त्याग कर हलके होते हैं, उनकी झुकी हुई डालियाँ हवा में फहराने लगतीं हैं वे उपकार की बात सोच ही नहीं सकते। वे फलों को फेंककर फलों की ओर से ऐसे ही बेपरवाह हो जाते हैं जिस तरह हम नाक की सिनक फेंककर, मुंह खखार फेंककर, पेशाब फेंककर या मल फेंककर। 'मल त्याग' उचित ही है। सिनक, खखार, पेशाब, मल त्यागने के बाद सचमुच हमें हलकापन प्रतीत होता है आनन्द आता है। मल रूक जाये तो वह किसी तरह का क्यों न हो बीमारी पैदा करता है। तो त्याग भी "मल त्याग" ही है। जिस तरह पेट में भोजन पहुंचकर उसका कुछ हिस्सा देह का अंग बन जाता है। शेष को बाहर निकलना ही चाहिये। ठीक उसी तरह हमारी कमाई का कुछ हिस्सा हमारे अंग के काम आ जाता है, हमारे कुटुम्ब के काम आ जाता है। शेष को त्यागना ही चाहिये। इसी तरह अर्जित ज्ञान हमें

दूसरों तक पहुंचाना ही चाहिये। पर ध्यान रहे त्याग करके हम किसी पर अहसान नहीं करते। किसी को लाभ पहुंचाते या नहीं यह भी कुछ कहा नहीं जा सकता, पर यह निस्संदेह है कि हम अपना भला जरूर कर लेते हैं। त्याग के बाद प्रसन्नता और आकर्षण शक्ति बढ़ जाती है, हम तन से, मन से तन्दरुस्त रहते हैं। त्यागी में अनुचित स्वार्थ नहीं रहता। यह त्याग की ही महिमा है कि आदमी सतत काम में लगा रह सकता है, लगा रहता है, थकान का अनुभव ही नहीं करता। किसने नहीं देखा कि माँ अपने पुत्र के लिये और बहन अपने भाई के लिये आराम त्याग कर भी आराम पाती रहती है। भोजन त्याग कर भी पेट भरने का सुख पाती रहती है। वस्त्रों की कमी को भी वस्त्रों की बहुलता समझती रहती है। ठीक इसी तरह ज्ञानी पुरुष में वात्सल्य गुण जागृत हो जाता है। त्याग गुण जागृत होने पर आदमी को बेहद सहिष्णु बना देता है। साहजिक त्याग हो तो आदमी निःशंक और निडर बन जाता है। त्याग से ही केवलज्ञान जसे गुण की प्राप्ति व्यक्ति को होती है। महावीर का त्याग ही उन्हें सर्वज्ञ और वीतरागी बना सका। त्याग से समाज की व्यवस्था भी शान्त और स्थिर रहती है। त्याग से आदमी के चारित्र में एक नया मोड़ आता है। दुनियाँ के साथ उसका व्यवहार ही बदल जाता है, वह कुछ का कुछ हो जाता है। त्याग समाज का, धर्म का नेता बना देता है। त्याग की महिमा कहां तक कहें। त्याग से ही आत्मा परमात्मा बन जाता है।

हमारी सारी दैहिक बीमारियाँ मल न त्यागने के कारण होती हैं। हमारा सारा आर्थिक कष्ट धन (दान न देने के) मल न त्यागने के कारण होता है। हमारा सारा दासत्व-अधिकार-मल (गर्व) न त्यागने का फल होता है। हमारी मूर्खता ज्ञानमल (इन्द्रियज्ञान) न त्यागने का फल होता है। दुःख सुखमल (इन्द्रियसुख) न त्यागने का फल होता है। संक्षेप में त्याग निहायत जरूरी चीज है अतः शक्ति प्रमाण त्याग की भावना रखना ही शक्तितः त्याग भावना है। आत्मा वास्तव में त्याग मूर्ति है त्याग स्वरूप है, ऐसी स्वरूपास्तित्व मात्र प्रतीति करने वाले पुरुषों के जो सहज त्याग रूप प्रतीति होती है वास्तविक त्याग उन्हीं पुरुषों का है। अतः सत्य स्वरूप त्याग वृत्ति के स्रोत, त्याग मूर्ति निज तत्व की भावना करने वाले सम्यग्दृष्टि के जगत के जीवों पर करुणा का भाव होने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

शक्ति प्रमाण तप

तीर्थंकर प्रकृति की कारणभूत ६वीं भावना का नाम है शक्तितः तप भावना। शक्तितः तप भावना का अर्थ है कि अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चरण करने की भावना होना। यानि जितनी सामर्थ्य शरीर में है, उस सामर्थ्य को, उस शक्ति को न छिपाकर तप करना। दूसरे शब्दों में परिपूर्ण शक्ति लगाकर तप के अनुष्ठान में बढ़ना। शक्ति से कम न रहकर, बढ़े चलो शक्ति माफिक अपनी तप की साधना में, इच्छा निरोध में और उसके बाह्य साधनों में यह तात्पर्य है शक्तितः तप भावना का।

संसार में लोग अनेक प्रकार की शारीरिक एवं यौगिक क्रियाओं को तप की संज्ञा देकर स्वयं को तथा लोगों को भुलावे में डाल रहे हैं। सच्चा तप क्या है ? वे यह जानते ही नहीं। अथवा कुछ लोग ऐसे हैं जो तप का नाम सुनते ही डर जाते हैं, उन्हें तप का नाम सुनकर ही भय होता है। ये दोनों प्रकार के ही अज्ञानी जीव यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान के अभाव में दुःख ही उठाते हैं। आत्म तत्व के यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान के बिना केवल क्रियायों मात्र से अपने आत्मा के अनन्त वैभवशाली रूप की प्राप्ति संभव नहीं। इसका यह अर्थ नहीं लेना कि मात्र आत्मा की रट लगाने से ही हमें आत्मा मिल जायेगा। आत्मज्ञान पूर्वक आचरण का अभ्यास आत्मोपलब्धि में कारण हैं। आचरण के बिना ज्ञान की शोभा नहीं और आत्म ज्ञान के बिना कठोर तप भी कार्यकारी नहीं। वैसे तप का अर्थ तपना होता है, साधारणतया लोग भी तप का अर्थ लेते हैं काय क्लेश से। सारे तपस्वी काय क्लेश के आधार पर ही तपस्वी समझे जाते हैं। परन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद जिसने भी तप को विश्लेषण किया, उसने काय क्लेश को कभी तप से नहीं जोड़ा। ऐसे ज्ञानविहीन तप को ज्ञानियों के द्वारा "बाल तप" (अज्ञान तप) की संज्ञा दी गई। इस बाल-तप नामक तप से शरीर तो अवश्य कष्ट पाकर के नष्ट हो सकता है परन्तु कषाय और इच्छा नष्ट नहीं हो सकतीं। विचार करो जीव में दुःख का मूल कारण तो कषाय और इन्द्रिय विषयों की इच्छायें ही हैं, इच्छाओं का अभाव हो तो जीव की सुख की प्राप्ति हो। इसीलिये आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने "सर्वार्थ सिद्धि" नामक ग्रन्थ में तप का लक्षण किया है—"इच्छा निरोधस्तपः यानि इच्छाओं को

रोकना ही तप है। एक उर्दू कवि ने भी इसी से मिलती जुलती बात कही है—

> "काट दे फेंक दे जड़ नख्ले तमन्ना कि अमीर,
> फूल कम्बख्त में आया न कभी फल आया।"

यानि अमीर का कहना है कि इच्छाओं आकांक्षाओं के पेड़ की जड़ काटकर फेंक देनी चाहिये, क्योंकि इस पेड़ में न कभी फूल लगे न फल आया। सचमुच इच्छायें ही हैं, जिनकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। संसार में इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। तप इन इच्छाओं पर नियंत्रण करने में सहायक है। बिना नियंत्रण के यह जीवन ऐसा ही है जैसे बिना ब्रेक की मोटर गाड़ी। ऐसी गाड़ी अपने लिये तो खतरा है ही पर दूसरों को भी दुःख में डाल सकती है। इन्द्रिय निरोध और तप के द्वारा अपने जीवन को नियमित बनाना चाहिये। अभिलाषायें एवं आसक्ति के निग्रह पूर्वक किया गया तप अवश्य फलदायी होता है। जिस प्रकार अग्नि की लपटों के आलिंगन से स्वर्ण-पाषाण अपनी किट्ट-कालिमा को छोड़ देता है और स्वर्णता को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार इच्छा निरोध रूप तपाग्नि में जब आत्मा तपता है तो अपने मोह, राग, द्वेष रूप या क्रोध, मान, माया और लोभ रूप समस्त विकारों को तज देता है और यह मलिन विभाव पर्याय में चल रही आत्मा निर्मल बन जाती है, परमात्मापने को प्राप्त हो जाती है। अथवा जैसे चकले पर बेलन से बेली गई आटे की रोटी को यदि अग्नि पर सेंकते हैं तो फूलकर उसके दो भाग हो जाते हैं इसी प्रकार अनशनादि बाह्य तप और प्रायश्चित आदि अन्तरंग तपों रूप आचरण के सेंक से आत्मा और शरीर भिन्न-२ हो जाते हैं।

तप दो प्रकार का होता है—अन्तरंग तप और बहिरंग तप। अन्तरंग तप के ६ भेद हैं प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। बहिरंग तप भी ६ प्रकार का है अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और काय क्लेश। ये १२ प्रकार के तपश्चरण साधुओं के मुख्य कर्तव्य हैं किन्तु यथाशक्ति श्रावकों को भी करना चाहिये। प्रथम अन्तरंग तपों की क्रमशः चर्चा करते हैं। अन्तरंग तप उन्हें कहते हैं जो दूसरों को न दिखें किन्तु अपने अन्तरंग भावों के अनुसार हों।

प्रायश्चित तप:—कोई अपने में दोप लगे तो गुरुजनों के समक्ष पश्चाताप ग्रहण करना प्रायश्चित तप है। अन्तरंग में बिना परिणाम निर्मल बने गुरुजनों के समक्ष प्रायश्चित लेने की बात मन में नहीं आती। परिणामों में जब यह निर्मलता जगती है कि अहो! मैंने कितना बड़ा अपराध किया? धिक्कार है मेरे मन को। यों एक अन्तरंग में रोना सा आ जाये, एक बड़ी भारी भूल अपने में महसूस हो, तब प्रायश्चित लेने की बात मन में आती है। इस तरह से उस प्रायश्चित का ग्रहण करना यह अन्तरंग तप है। देखो प्रायश्चित दो शब्दों से मिलकर बना है प्रायस् और चित्, प्रायस् का अर्थ है अपराध और चित्त का अर्थ है शुद्धि करना। यानि अन्तरंग में जो रागद्वेप रूप अथवा विपय कपाय रूप अपराध होता है, दोप बनते हैं उसकी शुद्धि इस प्रायश्चित तप के द्वारा करें। आत्म निंदा द्वारा, देव शास्त्र गुरु के समक्ष प्रायश्चित लेकर आदि विधि विधान द्वारा राग द्वेपादि विकारों को, विपय वासनाओं को पनपने ही न दें, उनको जड़ से समाप्त कर दें यह प्रयोजन है इस प्रायश्चित तप का। पापों के परिणाम व काम पर पछतावा करना सो प्रायश्चित है। संसार में अनादि से जीव, रागद्वेप, मोह के काम करते चले आ रहे हैं, पाप ही करते आये हैं उन्हीं के संस्कार जमे हुये हैं आत्मा पर। लेकिन जब ज्ञान जगता है तब बड़ा पछतावा होता है कि अहो इन पापों की प्रवृत्ति में अब तक अनन्तकाल व्यतीत कर डाला, यह सब प्रवर्तन मेरा स्वभाव न था। यह उपाधि के सम्बन्ध से अज्ञान अवस्था में हो गया था। मैं तो शुद्ध ज्ञायक स्वरूप हूं, मेरा कार्य तो मात्र जानना देखना है। प्रायश्चित कहते हैं अपने मन को, चित्त को शुद्ध कर लेना। प्रायश्चित का वातावरण बहुत पवित्र है, इससे मोक्ष मार्ग में बल प्रगट होता है। कोई-कोई मुनि व ग्रहस्थ तो किसी प्रायश्चित का परिणाम करके इतनी निर्मलता प्राप्त कर लेते हैं कि उन्हें अन्तर्मुहूर्त में ही मोक्षमार्ग प्राप्त हो गया। देखो कुल भूषण देश भूषण को। दोनों भाईयों को अपनी बहिन कमलोत्सवा की जानकारी न होने से, जब वे विद्या पढ़कर कई वर्षों में लौटे और अपनी बहिन को नगर प्रवेश के समय देखा तो दोनों के भाव उससे शादी

करने के हो गये, बाद में पता लगा कि यह तो हमारी बहन है सो इतना पछतावा हुआ अपने विभाव पर कि तुरन्त वापिस लौट गये और मुनि दीक्षा धारण की। तो यह प्रायश्चित का ही फल था। प्रायश्चित ग्रहस्थ को भी करना चाहिये। अपने दिन रात किये हुये कर्मों का विचार करना चाहिये। मैंने कौन सा आज खोटा काम किया, किसको सताया, किससे झूठ बोला, किसकी कोई चीज उठाई. किसी पुरुष अथवा स्त्री का रूप देखकर मैंने कितना अपना मन विचलित किया, और धन, वैभव परिग्रह का संचय करने में मैंने कितना अपना चित्त बिगाड़ा। अपने पापों का लेखा करो और प्रायश्चित्त करो इससे आत्मा की शुद्धि होती है।

विनय तपः—विनय नाम है आदर भाव का। विनय दो तरह की है—एक मुख्य विनय एक उपचार विनय। मुख्य विनय से तात्पर्य है ऐसी विनय से जिससे कि आत्महित के लिये प्रोत्साहन मिले। सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र की वान्छा बने। अतः मुख्य विनय तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विनय है और इस रत्नत्रय के धारकों का विनय है। जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं उनका हृदय में सम्मान करना, उनके सम्यक्त्व गुण का स्वरूप विचार कर उनको निरख-२ कर प्रफुल्लित होकर उस आत्मा का विनय करना सो सम्यक्त्व के धारियों का विनय है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान का विनय करना और सम्यग्ज्ञान के धारियों का भी विनय करना। सम्यग्ज्ञान के प्रकाश द्वारा जीव शान्ति में पहुंच जाता है, वह सम्यग्ज्ञान हृदय में बसे और उसके प्रति साधुवाद जयवाद जैसा शब्द निकले। धन्य है यह सम्यग्ज्ञान गुण, जिसके द्वारा यह जीव मोक्ष को प्राप्त करता है, जहां आत्मा के स्वरूप का दर्शन है, सब द्रव्यों से न्यारा जो आत्मा का चैतन्यतत्व है उसका जहाँ अनुभवन होता है ऐसे सम्यकदर्शन सम्यग्ज्ञान को बड़े बहुमान के साथ ज्ञानी पुरुष देखते हैं। और ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के धारी जो पुरुष हैं उनका महान आदर ज्ञानी पुरुष करते हैं। इसी प्रकार जो सम्यकचारित्र के धारी हैं, शान्त हैं, समता के पुन्ज हैं केवल आत्मा के दर्शन में ही जिनकी धुन है ऐसे जो एक मोक्ष मार्ग के पथिक हैं, ऐसे साधु जनों का विनय करना और सम्यकचारित्र के प्रति आदर भाव करना सो सम्यकचारित्र विनय है। ये ३ मुख्य विनय हैं क्योंकि ये आत्मा के गुण हैं, अपने गुण हैं उन पर दृष्टि जाने से अपनी आत्मा पर दृष्टि जाने में सहयोग मिलता है अतः यह मुख्य विनय या निश्चय विनय है।

और व्यवहार में आने वाले साधर्मी जनों का, राजकाज, गृहस्थकाज के अधिकारियों का विनय, उपचार विनय है। यह उपचार विनय मोक्ष का मार्ग नहीं क्योंकि उसमें सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि का भेद न करके तथा चारित्र आदि का ख्याल न करके वह भी नमस्कारादि करता है तो प्रत्युत्तर में और गुद भी उनका विनय करना उपचार विनय है, यह लोक व्यवहार की विनय मोक्ष मार्ग नहीं हैं। मोक्षमार्ग में तो रत्नत्रय की ही विनय बतायी है। परन्तु लोक में अपने समान, अपने से महान और अपने प्रसंग में आये हुये सभी पुरुषों से विनम्र शब्दों में मन, वचन, काय को नम्र करके यथोचित व्यवहार करना सो उपचार विनय है। सो यह सब मोक्ष मार्ग में चलने वाले पुरुष का हितकारी वातावरण है। विनय नामक तप महत्व का परिणाम है जो कोई छोटा हो, बड़ा हो सबके साथ यदि विनय का व्यवहार है तो उसका फल उत्तम मिलता है। अभी यहीं पर बातचीत के प्रसंग में विनय से यदि किसी से बोल दिया है तो उसके बदले में दूसरे लोग भी कितने सुन्दर वचन बोलते हैं और किसी से तुम अकड़कर बोलो चाहे वह गरीब हो, भोरू भी क्यों न हो उस अकड़ के बोलने का परिणाम अवश्य बुरा मिलेगा। तो फिर मोक्षमार्गियों को साधुओं के समागम में विनयवृत्ति से लाभ होता ही है। विनय बिना विद्या ग्रहण में नहीं आ सकती। लौकिक विद्या ही नहीं सीखी जा सकती विनय बिना। तो फिर विनय तप किये बिना अध्यात्म विद्या कैसे प्राप्त हो सकती है? अध्यात्म विद्या की प्राप्ति के लिये विनय तप आवश्यक है क्योंकि आत्मा स्वयं सरल स्वभावी है, जब तक विनय रूप परिणाम नहीं होता तब तक सरल स्वभावी आत्मा में प्रवृत्ति नहीं होती। विनय नामक तप में बहुत गुण हैं। विनय के प्रसाद से गुणों का विकास होता है। यदि नम्रता नहीं है, घमंड है तो सम्यग्ज्ञान, ब्रह्म विद्या, आत्म विद्या सीख जायें यह कदापि नहीं हो सकता। तो विनय का सम्बन्ध अन्तरंग से है अपना अन्तरंग परिणाम बनाना विनय भाव है।

वैयावृत्य तप—वैयावृत्य नाम के तप का अर्थ है विरक्त संत पुरुषों की सेवा करना, पूज्य पुरुषों की सेवा करना,। वैसे वैयावृत्य का सीधा अर्थ है निवृत्त या व्यावृत्त पुरुष का कार्य। उदासीन विरक्त पुरुषों के भाव का नाम है वैयावृत्ति। निश्चय से तो वैयावृत्ति अपने आत्म स्वरूप की सेवा करना है। आत्मस्वरूप इने विषय विकार आदि

मिथ्याभावों के कारण मलिन है, पीड़ित है, रोगी है, आकुल व्याकुल है सो अपने ऐसे दुःखी आत्म स्वभाव की वैयावृत्ति करना सो वैयावृत्य तप है। और पर सेवा की मुख्यता से, विरक्त ज्ञानी संतों की सेवा करना वैयावृत्य है, वैयावृत्ति के दो भेद हैं—एक शरीर चेष्टा द्वारा वैयावृत्ति करना और एक दान करके वैयावृत्ति करना। साधु थके हों तो पगचम्पी आदि से उनकी थकावट दूर करना, जिस प्रकार उनको आराम मिले और मोक्षमार्ग में वे प्रगति कर सकें उस तरह से सेवा करना सो वैयावृत्य है। पुरुष लोग तो शारीरिक वैयावृत्ति कर लेते हैं और महिलायें आहार दान औषधिदान, ज्ञानदान, अभयदान करके वैयावृत्ति कर लेती हैं यह शारीरिक वैयावृत्ति से भी बढ़कर है। इन दोनों प्रकार की वैयावृत्तियों का बड़ा महत्व है। वैयावृत्य भी बहुत उन्नति करने वाला है। बड़े पुरुषों की सेवा का अनुपम फल ज्ञान प्रकाश मिलता है तथा यह वैयावृत्ति त्यागमय पवित्र व्यवहार है जिससे आत्मा में प्रगति होती है।

स्वाध्याय तप:—जीव के उद्धार का कारण स्वाध्याय है। स्व मायने आत्मा और अध्याय माने अध्ययन करना—आत्मा का अध्ययन करना, चिंतन करना स्वाध्याय है। जैसे किसी के स्वाध्याय का नियम है तो झट ३-४ लाईनें शास्त्र की पढ़कर चले गये तो यह स्वाध्याय नहीं कहलाता, स्वाध्याय है खुद को पढ़ना। अपने आपके ज्ञान की प्रभावना करने के लिये श्रद्धान पूर्वक वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत जैन शास्त्रों को पढ़ना, अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, बाँचना, सुनना सो सब स्वाध्याय है। शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय स्वाध्याय है, क्योंकि कल्याण होता है शुद्ध ज्ञान से और ज्ञान की शुद्धता बनाने में कारण है स्वाध्याय। जब हम अपने अनुभवी परम पूज्य संत ऋषि जनों का अनुभव पढ़ते हैं, उनके दिये ज्ञान को देखते हैं तो उससे विषय कषायों का परिणाम समाप्त हो जाता है और विषय कषायों का परिमाण समाप्त हो जाने से ज्ञान प्रकाश बढ़ जाता है, इस कारण यह स्वाध्याय नामक तप बड़ा पवित्र तप है। स्वाध्याय तप ५ प्रकार से किया जाता है। एक तो ग्रन्थ को बांचना, ग्रन्थ रखकर उसे पढ़ना और सामायिक रूप भी जानते जाना। अपने ज्ञान के क्षयोपशमानुसार अर्थ लगाना आदि सो यह बांचने का स्वाध्याय है। और प्रत्येक स्वाध्याय इस पद्धति से करते रहना चाहिये जिससे अपने आत्महित पर दृष्टि जावे। दूसरा

स्वाध्याय है प्रच्छना—कोई शंका चर्चायें हों तो उसको पूछना नम्र भाव से। कठोरता से, नीचा दिखाने के भाव से या किसी की परीक्षा लेने के अभिप्राय से पूंछना पृच्छना स्वाध्याय नहीं, वह तो कपाय है। अपनी जानकारी को दृढ़ करने और शंका के निवारण करने के अभिप्राय से, विनीत भाव से पूंछना सो स्वाध्याय है। तीसरा स्वाध्याय है अनुप्रेक्षा—किसी पाठ का बारबार विचार करना, उसका चिन्तन करना, भावना करना सो अनुप्रेक्षा है जैसे १२ भावनाओं का ज्ञान किया, अपने आत्म-स्वरूप का कुछ ज्ञान किया तो वारवार उसका मनन करना सो सब अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय है। चौथे स्वाध्याय का नाम है आम्नाय—विद्यार्थी की भाँति किसी गुरू के पास पढ़ना। जैसे कोई पाठ याद करे, घोके उसे, कंठस्थ करे सो आम्नाय है। ५ वां स्वाध्याय है धर्मोपदेश—पदार्थ विपयक यथार्थ उपदेश देना सो भी स्वाध्याय है क्योंकि उसमें आत्मा का मनन है। प्रवचन देने वाला, शास्त्र सभा करने वाला, धर्म की बातों का उपदेश करने वाला, पहिले अपने आपको विचारता है, अपने आपको कहता है यदि कोई, तो उससे यथार्थ उपदेश बनता है ऐसा धर्मोपदेश भी एक स्वाध्याय है। धर्मोपदेश सुनने वाला और सुनाने वाला ये दोनों स्वाध्याय कर रहे हैं। इस प्रकार ५ प्रकार के स्वाध्याय द्वारा हमें अपने चैतन्य स्वभाव में प्रतपन करना चाहिये।

व्युत्सर्ग तप:—व्युत्सर्ग का अर्थ है त्याग करना—वाह्य में इन धन धान्यादिक का त्याग करना, और अंतरंग में शरीर से अहंकार ममकार रूप बुद्धि का त्याग, ममत्व का त्याग करना सो व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग ममत्व के त्याग करने को कहते हैं, उपाधियों से ममत्व का त्याग होना सो व्युत्सर्ग है। वाह्य उपाधि, घर, परिवार, शरीर, कर्म ये तो आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं इनके बारे में व्यर्थ में विकल्प करते और दुःखी होते हैं, दूसरी अंतरंग उपाधि है अपने में उठने वाले रागादिक भाव। ये भाव भी मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये ही तो मुझे वर्वाद करने वाले हैं। इन रागद्वेष विभाव भावों के कारण ही तो इतना महान केवल ज्ञान रूका हुआ है, तो वाह्य उपाधि के साथ-साथ इन राग द्वेष आदि विकारों का भी त्याग होना आवश्यक है। इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग केवल उपेक्षा से होता है। वाह्य पदार्थ तो अपनी सत्ता से हैं उनकी सत्ता का तो हम नाश नहीं कर सकते। हाँ अंतरंग उपाधि का त्याग ज्ञान वल से होता है। ये रागादिक विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं मैं इन

रागादिकों से प्रथक मात्र चैतन्यस्वरूप हूं इस प्रकार इन रागादिक विकारों की उपेक्षा करना और अनंत ज्ञान स्वरूप में प्रवेश करना सो अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। और विकारों का नाश भी क्या करना ? वे स्वयं दूसरे क्षण नहीं रहते, हां यह बात जरूर है कि और-और विकार आते रहते हैं उनका त्याग कैसे हो? तो उनकी उपेक्षा कर दें, उनसे अपना उपयोग हटालें बस यही उनका त्याग हुआ। कर्मों का ऐसा उदय आया और कुछ आत्मभूमि में रागादिक विकार हो गये, होना पड़ता है, अब क्या किया जाये ? होने दो, उनसे उपेक्षा करना, ममता हटाना यह बड़ी साधना है। यह अंतरंग व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान तपः—चित्त को विशुद्ध तत्व की ओर लगाना सो ध्यान हैं किसी शुद्ध विषय में एकाग्रचित्त हो जाना इसको ही ध्यान तप कहते हैं। जीवादिक ७ तत्वों के सम्बन्ध में चिन्तन करना, ध्यान करना चाहिये। मैं जीव क्या हूं ? जो एक चैतन्य शक्ति है, चित्प्रकाश है, वह मैं जीव हूं, यह जीव सुरक्षित है, स्वयं सत् है मगर यह आत्मा स्वयं अपने को तुच्छ मानकर, अशरण मानकर, आनन्दहीन मानकर स्वयं तड़फता है और पर पदार्थों में लगा करता है, आकुलित होता है। जब उसे यह विदित हो जाये कि यह मैं आत्मा स्वयं ज्ञान और आनन्द स्वरूप हूँ। मेरे में अपूर्णता नहीं है, किसी अन्य से मेरा सम्बन्ध नहीं है, यह मैं पूर्ण ज्ञानानन्दमय हूं ऐसी सजगता हो तो इसकी व्यग्रता समाप्त हो जाये। अपने ऐसे आत्म स्वरूप में निर्विकल्प रूप से तल्लीन हो जाना सो ध्यान हैं।

उक्त सभी अन्तरंग तपों में अंतरंग परिणामों की प्रमुखता है। इन तपों से अनेक लाभ होते हैं—प्रथम तो मानकषाय नष्ट हो जाती है। जिसके मान कषाय है वह प्रायश्चित. विनय और वैयावृत्य नहीं कर सकता। दूसरा लाभ यह है कि ज्ञानादिक गुणों की वृद्धि हो जाती है विनय, व्युत्सर्ग आदि तप के बिना मोक्ष सम्बन्धी विद्या का विकास असम्भव है। तीसरा लाभ यह है कि गुणों में अनुराग प्रगट हो जाता है। चौथा लाभ यह कि व्रत की सिद्धि होती है, चारित्र की विशुद्धि बढ़ती है। पांचवां लाभ यह है कि आत्मा निशल्य हो जाता है। और छठा लाभ यह है कि अंतरंग तपों के प्रताप से परिणामों में उज्ज्वलता रहती है, सम्वेग परिणाम बढ़ता रहता है।

अब बाह्य तप के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करें—बाह्य तप छः बताये

है कि जो बाहर में लोगों को दिखने में आवें। बाह्य पदार्थों के आलम्बन से, संयोग वियोग से ये तप चलते हैं। इन तपों में अन्तरंग परिणामों की प्रमुखता नहीं है इसलिये इन्हें बाह्य तप कहते हैं बाह्य तप ६ हैं।

अनशन—अनशन का अर्थ है उपवास। ४ प्रकार के आहार खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय का परित्याग करना सो अनशन हैं। भोजन का त्याग करने से इन्द्रिय विकार न होने का लाभ मिलता है। दूसरा लाभ मन की चंचलता मिटाने में सहायक है और उपयोग को ज्ञानस्वरूप में लगने का अवसर मिलता है। जब इन्द्रिय विकार और चंचलता न रही तो उपयोग अपने आत्मा के समीप वास करेगा जैसा कि उपवास शब्द से ध्वनित है। अनशन से शरीर हलका रहता है और आहार न करने के संकल्प से धर्म की ओर बुद्धि अधिक रहती है, ध्यान की साधना अच्छी बनती है, अनुभूति जगती है संकल्प विकल्प हटकर निर्विकल्प स्थिति का भी इसमें यत्न बनता है। अनशन आत्मा का स्वभाव ही है आत्मा का स्वरूप तो जानन है चैतन्य प्रकाश है मेरा काम खाना पीना नहीं हैं। कर्म उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा में क्षुधा उत्पन्न होती है पर क्षुधा आत्मा का स्वभाव नहीं हैं आत्मा का स्वभाव तो ज्ञातादृष्टा रहना है। ज्ञानियों का तो ऐसा ध्यान रहता है कि भोजन रोग है और आत्मा की वर्बादी का कारण है। लेकिन अपने अनशन स्वभावी शुद्धात्मा की भावना रखते हुये भी कर्मों की उदीरणा के कारण जो कुछ भोजन करना पड़ता है सो वह विधिपूर्वक करता है। जितने से काम चलता है उतना भोजन करता है बाँकी अनशन व्रत रखता है। अनशन एक तपश्चरण है, समय-समय पर, पर्वों पर और विशेष अवसरों पर अनशन ग्रहण करना चाहिये। उपवास के समय गुरु संगति में, धर्म ध्यान में अपना समय व्यतीत करना चाहिये, आरम्भ परिग्रह के प्रसंग में रहना त्याज्य है

अवमौदर्य—भूख से कम खाने का नाम अवमौदर्य है। यह अनशन से भी कठोर है। भोजन भी पूरा न हो और उपलब्ध सर्व भोजन को छोड़ देना बड़ा कठिन है। लोग तो जब तक पेट खूब भर न जाये तब तक खाना बन्द नहीं करना चाहते, पर इस तपश्चरण से भूख से कम खाने में प्रमाद नहीं रहता, सावधानी रहती है। निद्रा नहीं आती है, ध्यान सिद्धि की बात बनती है और यह तप ब्रह्मचर्य सिद्धि का भी साधन है।

वृत्तिपरिसंख्यान—भोजन को जाते समय साधुजन

ऐसी आखड़ी लेकर निकलते हैं कि ऐसी बात देखने को मिलेगी, अमुक गली में मकान में घूमकर आहार के लिये जाऊंगा आदि ऐसी नाना प्रकार की प्रतिज्ञायें लेते हैं। आहार मुश्किल से प्राप्त हो, इसलिये अपनी अटपटी आखड़ी लिया करते हैं तथा यह भी देखते हैं कि अंतरायकर्म कितने हैं। तथा जब भोजन करने की आवश्यकता में संदेह रहता है कि भोजन करें या नहीं या कुछ भूख रहती है कुछ नहीं तब ऐसी अटपटी प्रतिज्ञा ले ली जाती है कि यदि ऐसा होगा तो भोजन करेंगे अन्यथा नहीं। अपने कर्मों की परीक्षा के लिये व आहार करें या न करें इस प्रकार के विकल्पों को मिटाने के लिये वृत्ति परिसंख्यान तप किया जाता है। इस तप से रागादिक भावों पर विजय होती है, कर्मों का क्षय होता है, ध्यान की प्राप्ति होती है और शरीर के दोष दूर होते हैं।

रसपरित्याग—दूध, दही, घी, तेल, मीठा, नमक इन रसों में से एक दो अथवा सबका परित्याग करना सो रस परित्याग है। यह परित्याग इन्द्रियों को काबू में रखने के लिये किया जाता है। मनमाने विचार न करने और इच्छाओं का दमन करने के लिये रसपरित्याग होता है। रस परित्याग तप से सात्विक वृत्ति उत्पन्न होती है और विषय कषायों से बहुत सा छुटकारा मिलता है इस तप से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है और आत्म हित के लिये बड़ा पवित्र वातावरण बनता है।

विविक्तशय्यासन—एकान्त शून्य स्थान में सोना, बैठना, रहना सो विविक्तशय्यासन तप है। क्योंकि मनुष्यों से सम्बन्ध रहेगा तो वहाँ वाकव्यवहार से स्नेह बढ़ेगा। स्नेह का बन्धन ही दुःख देता है अतः विविक्तशय्यासन से रागद्वेष के साधन नहीं रहते और ज्ञानोपयोग की पवित्रता बढ़ती है।

कायक्लेश—गर्मी, सर्दी, वर्षात के स्थान में ध्यान करने बैठना, अनेक प्रकार के कष्ट सहना सो काय क्लेश तप है। यह सब उस निर्विकल्प ध्यान की स्थिति प्राप्त करने के लिये है। काय से साधु को निर्ममत्व वृत्ति होने से इन उपद्रवों को सहते हुये अपनी आत्मा के उपयोग में लगे रहना सो कायक्लेश है। कोई कठिन संकट आ जाये पर ममता रह सकती कि नहीं तथा रागभाव से परिणामित न हो जावें इस भावना से कायक्लेश किया जाता है। इससे विषय कषाय की वृत्ति नहीं रहती, सुखिया स्वभाव, मौज मानने का स्वभाव नष्ट हो जाता है।

इन बाह्य तपों का आचरण करने से मन भोगों से हट जाता है,

दूसरी जगह मन नहीं जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि आराम से सुखिया रहकर ज्ञान अर्जित किया है तो उपद्रव आने पर विचलित हो जाने का भय रहता है। लेकिन इन तपों के अभ्यास से वह दुःख के समय भी ज्ञान को स्थिर रखने में समर्थ होता है, इन्द्रियों का दमन होता है, ध्यान अध्ययन की सिद्धि होती है तथा भव-भव के बांधे कर्म क्षीण हो जाते हैं, कर्मों की निर्जरा होती है। इच्छाओं का अभाव होने से रागद्वेष का अभाव होकर ज्ञातादृष्टा रूप रहने की स्थिति बनती है। इन सब तपश्चरणों का प्रयोजन अपने को अन्तरंग में ज्ञान-मात्र अनुभूति करने का है और इच्छाओं को समाप्त करने का है। श्रावक जन भी अपनी शक्ति के अनुसार इन तपश्चरणों को करें। इच्छा न बढ़े, मन वश में हो, विषयों में आसक्ति न हो तो उससे तपश्चरण बनता है। तपश्चरण के प्रयोजन अनेक हैं शरीर से उपेक्षा भाव बढ़े, शरीर कृश होवे, विषय कषाय में उपयोग की गति न जाये, व्रतों की, ब्रह्मचर्य की साधना प्रबल बने ये सब प्रयोजन तपश्चरण के हैं। परन्तु मूल प्रयोजन सबके साथ यही है कि अपने ज्ञानस्वभाव में उपयोग की गति बने। जैसा कि प्रवचन सार में कहा ही है कि "शुद्ध चैतन्यस्वरूप प्रतपनाच्च तप:" यानि अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतपन करना सो तप है।

यह शरीर तो अशुचि है, दुःखों को उत्पन्न करने वाला है, विनाशीक है, अस्थिर है, अपवित्र है तथा कृतघ्नी की तरह है मानों उपकार को भूल जाने वाला है। इस देह को कितना ही सजावो, खिलावो, सेवा करो पर यह दुःख का ही कारण बनता है ऐसे शरीर को क्या आराम में रखना? यह पुष्ट करने योग्य नहीं, कृश करने योग्य है। शरीर की सार्थकता तप में उद्यमी होने से है। तप करने के पहिले अपना विशुद्ध उद्देश्य बना लेना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। जिन ज्ञानियों का उद्देश्य निर्मल है, मोक्षमार्ग के अनुकूल उद्देश्य जिसने बना लिया है उनका यह तपश्चरण समता और शान्ति का साधक होता है। जिनको मोक्षमार्ग के रहस्य का ही पता नहीं, भले ही वह व्रत, तप आदिक भी कर रहा हो, किन्तु मैं क्या हूँ इसका जिसने ठीक भान नहीं किया है, ऐसे पुरुषों को उन तपश्चरणों के करने पर या तो यश की पोषणा का भाव रहेगा या पद-पद पर क्रोधादि कषायें जगेंगी। अतः सर्वप्रथम हम अपने आत्मा को शुद्ध भावना से, ज्ञान भावना से, स्वरूप परिचय से, वस्तु स्वरूप की स्वतंत्रता के निर्णय से अपने उपयोग को, अभिप्राय को स्वच्छ बना डालें। जिस उपयोग में कषायों का रंग न जमें, गर्व न ठहरे, विपरीत आशय न

रहे, पर के प्रति ममता न जगे तो थोड़ा सा भी तप शान्ति और समता का साधक होगा फिर तप में पीड़ा या क्लेश न होकर आनन्द होगा। शुद्ध स्वच्छ उपयोग में धर्म रस की प्राप्ति होगी। शरीर के अनुरागवश शरीर को बहुत आराम से रखने की मोहियों की प्रवृत्ति होती है। अरे यह शरीर तो नष्ट होने को ही है। जितनेदिन को मिला है उतने दिन तो परोपकार कर लें स्वयं अपना और पर उपकार करें ऐसी वृत्ति रखने को कहते हैं, शक्तितः तप । गृहस्थ यदि ज्यादा न बढ़ सके तप में तो उनका सबसे बड़ा तप तो प्रथम यह है कि उदय अनुसार जो कुछ प्राप्त होता है. थोड़ी बहुत आय होती है उसके अनुसार ही अपना धर्म का प्रोग्राम बनाकर गुजारा करें और दूसरों का आडम्बर देखकर अपने मन को असंयत न बनावें। ये सब संसार के वैभव मायारूप हैं, स्वप्न हैं इनमें तुष्ट होना योग्य नहीं, अपना निज ज्ञानस्वरूप ही अपना वैभव है अतः ज्ञानार्जन में बढ़ें, धर्म मार्ग में बढ़ें तो अनुपम लाभ है। यहाँ २-४ कर्म-मलिन जीवों से, परिचितों से क्या नाम यश की चाह रखना, किसे रिझाना ? सब को एक दिन यहाँ से जाना है अतः योग्य अवसर को पाकर सारभूत जो ज्ञानार्जन है उसमें अपना उपयोग देवें। यदि आय कम है, रोजगार कम है तो यह कोई पापोदय नहीं हैं वह तो इस समय का बहुत बड़ा ऊंचा लाभ ले सकता है। पाप का उदय तो उसके है जिसके परिणाम मलिन रहें। पंच पापों में चित्त बसा रहे। धर्म में बुद्धि का न होना ही वास्तव में पाप का उदय है ऐसे पाप बुद्धि वाले जीव तो दया के पात्र हैं और दुःखी हैं, अज्ञान ग्रस्त हैं उनका आडम्बर देखकर चाह नहीं करना, उदयानुसार प्राप्ति में संतोष रखना चाहिये।

दूसरा तप ग्रहस्थ का यह है कि यह दृढ़ विश्वास बनावे कि जो कुछ समागम है धन वैभव कुटुम्ब परिवार ये सब नियम से किसी दिन बिछुड़ेंगे। सब मुझ से भिन्न वस्तुयें हैं, अनित्य हैं, बिछुड़ जाने वाली हैं। ऐसी सम्यक् बुद्धि से उनके वियोग के समय क्लेश नहीं होगा। देखो अनशन करने. धन वैभव छोड़ने की बात नहीं कह रहे हैं परन्तु भीतर में वस्तु स्वरूप के अनुकूल परिणाम बनाओ तो परिणामों में उज्जवलता आवेगी यह बात कही जा रही है। यहाँ न कोई शरण है, न रक्षक है कहाँ विश्वास जमाये हो ? देखो न, श्रीरामचंद्र जी और सीता के स्नेह और विश्वास के समक्ष किसका उदाहरण रखा जावे, वे भी सौख्य में नहीं रह सके, राम ने सीता को वनवास दिया। इसी प्रकार राम

लक्ष्मण का स्नेह भी देखो पर उन्होंने कितने-२ दुःख सहे ? यहाँ कोई किसी का रक्षक नहीं, आपने आपका सदाचार और भला आचरण ही अपना सहायक है।

तपस्या की मूर्ति तो आभ्यंतर और बाह्य परिग्रहों से रहित साधु पुरुष होते हैं। इस तप भावना में अपनी भी ऐसी भावना होना चाहिये कि कब वह क्षण आये, कब वह दिन आये कि सर्व परिग्रहों से विकल्प त्याग कर, शरीर से निर्ममत्व होकर उपद्रव और उपसर्गों में शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निंदा, अनुकूलता-प्रतिकूलता में समता भाव रखकर शुद्ध निर्विकल्प निज ज्ञायक स्वरूप में रत रहा करें, ऐसी भावना करना सो शक्तित: तप भावना है। त्याग और तपस्या बिना शान्ति मार्ग नहीं मिल सकता अत: इनकी भावना रखना ही योग्य है। तपाने से सोना चमकता है, मांजने से बातुयें निखरती है, घिसने से हथियार तेज होता है, रगड़ने से आग पैदा होती है इसी प्रकार परिश्रम और प्रयत्न से मनुष्य के भीतर, आत्मा के भीतर छिपी हुई अनेकानेक शक्तियाँ और योग्यतायें प्रस्फुटित होतीं हैं। आत्मध्यान रूप तप से, कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति मिलती है। अत: अपनी शक्ति-अनुसार तप का आचरण करना चाहिये।

साधु समाधि

सोलह कारण भावनाओं में ८वीं भावना का नाम है साधु समाधि। जो व्रत शील तप आदि गुणों से सम्पन्न पुरुष हैं ऐसे संतों के किसी कारणवश विघ्नवाधा आ जाये तो उस विघ्न को दूर करना, धर्म की रक्षा में सहायक होना, व्रत और शील की रक्षा करना सो साधु समाधि भावना है। जिस प्रकार कि किसी भंडार में लगी हुई अग्नि को कोई ग्रहस्थ अपनी उपकारक वस्तु का नास जान अग्नि को बुझाता है, उसी प्रकार व्रती आत्मा पर जो उपद्रव विघ्न वाधायें आयीं हैं उनसे परिणामों में संक्लेश हुआ है, वे अग्नि की तरह हैं जो व्रती के उपकारक वैभव को नाश करने वालीं हैं अतः व्रती के वैभव को सुरक्षित बनाने के लिये इन वाधाओं को शान्त करना यही है साधु समाधि भावना। अथवा गृहस्थ के कदाचित् मृत्यु का काल आ जाये, उपसर्ग, रोग, परिणाम को विगाड़ने वाला अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग की स्थिति आ जावे तो ऐसे समय में भी भय को प्राप्त न होकर, परिणामों में संक्लेश न करके समता भाव में रहना सो साधु समाधि भावना है। मरण समय अपने आपको समझाना चाहिये कि हे आत्मन्! तू तो ज्ञान दर्शन सुख सत्ता आदि भाव प्राणों वाला है जो कभी नाश नहीं हो सकता। देह के नाश को अपना नाश मानना सो तो अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है। आत्मा तो अविनाशी अजर अमर है। १० प्रकार के पौदगलिक प्राण (५ इन्द्रिय-वल, मनोवल, वचनवल, कायवल, आयु और स्वासोच्छ्वास) ये तेरे स्वरूप नहीं। इन पौद्‌गलिक प्राणों का ही मरण होता है, जन्म होता है, संयोग वियोग होता है, तेरा न जन्म है और न मरण। अपनी ओर देख! तू तो अखन्ड अविनाशी ज्ञान स्वरूप चैतन्यतत्व है। तेरा कहां मरण है। उपजना भी पर्याय का है और मरना भी पर्याय का है क्योंकि उत्पाद व्यय पर्यायों में हुआ करता है। वस्तु तो ध्रौव्य रूप से बनी रहती है, उसका उत्पाद व्यय नहीं होता उसमें तो त्रिकाल स्थायित्व रहा करता है। और फिर इन देहादिक पर्याय रूप से तूने अनन्तबार जन्म पाया, अनंतबार मरण किया, कोई नया अनोखा जन्म [illegible]

ही है उसका विनाश होते समय संक्लेश करना योग्य नहीं। जिस पुरुष के अंत समय में संक्लेश न हो, जीवन तो वही अनोखा है। मरण भय को मिटाने को और अपनी समाधि बनाने को अपने अविनाशी ज्ञान स्वभाव की दृष्टि करना परमावश्यक है ऐसे अपने टंकोत्कीर्ण ध्रुव त्रैकालिक ज्ञायक स्वभाव रूप अन्तस्तत्व स्वरूप की स्थिति बने, ऐसी भावना को साधु समाधि कहते हैं। ऐसी स्थिति उसी के बन सकती है जिसने प्रारम्भ से ही अपने जीवन को ज्ञान और वैराग्य में ढाला हो, जीवन में संयम व तप का अभ्यास किया हो। लेकिन जो जीवन भर असंयमी रहा, इस मायामयी जगत के वैभव की ही जिसे चाहें रहीं, ऐसी मिथ्या वासना वाला जीव मरण समय में अपने पद से विचलित न हो, उसका समाधि भाव बने यह असम्भव सा ही है। मरण समय में उसी जीव का पुरुषार्थ चल सकता है जिसने भेद ज्ञान प्राप्त किया हो, प्राप्त समागम से भिन्नता की भावना भाई हो। भले ही कोई देखे सुने हुये समाधि के खूब भजन बोल जाये, खूब समाधिमरण के भजन बोले और जब स्वयं का मरण काल आये तो ममता जग जाये तो क्या सिद्ध हुआ उससे। मरणकाल में समाधि बने इसके लिये ज्ञान भाव .। का यत्न, विकट परिस्थितियों में धीर गम्भीर बने रहने का अभ्यास करना चाहिये। अन्तः विशुद्धि से ही साधू समाधि बन सकती है। ज्ञानी पुरुष मरण समय में सावधानी हेतु अपने को और पर को यों प्रतिबोध देते हैं कि देह तो दुर्गन्धित विनाशीक है और मैं अविनाशी ज्ञानमय परम पवित्र पदार्थ हूं। अज्ञानी बनकर इस शरीर के वियोग होने में ऐसा संक्लेश करना कि हाय मैं मरा, हाय मैं यहां से गया, योग्य नहीं, अपनी दृष्टि यथार्थता की ओर लगा। शरीर तो हजारों कीड़ों से भरा हुआ है, हाड़, माँस, मज्जा, खून, पीव से भरा है। ऊपर से तेल, क्रीम, पाऊडर से चिकना चापड़ा बना लिया तो इससे अन्तर की गन्दगी में तो फरक नहीं पड़ता और इतना ही नहीं कि ये अशुचि ही हो परन्तु ये विनाशीक भी है, अवश्यमेव नष्ट होने वाला है। ऐसे आत्मा से भिन्न जो शरीर उसके नाश को अपना मरण समझ रहा यह मूल भूल है इस भूल को मिटा, तू तो अविनाशी है। और भी सोचो यह देह का मरण

तो तेरा मित्र ही है, उपकारी ही है। हे आत्मन् ! यह देह का मरण इस सड़े गले देह से निकाल कर रंगा चंगा नया शरीर का संयोग करायेगा। देवादिक का सप्त धातु रहित उत्तम वैक्रियक शरीर देगा। इस प्रकार अतिवृद्ध जीर्ण शरीर से हटाकर नये शरीर में पहुँचा देने वाला होने से मरण को मित्र जानना। उत्तम देह मिले जो धर्म का साधक हो ऐसा उपकारी समाधि मरण ही है। और भी देखो—सारा जीवन व्रत तप संयम में विताया, उससे जो पुण्यबंध हुआ तो उस पुण्य के उदय का फल अगले देवादिक पर्याय में ही तो मिलेगा। जहाँ तीर्थंकरों के साक्षात् दर्शन करने का अवसर, व अन्य भी धर्म के साधन मिलेंगे। तो इस प्रकार व्रत की साधना करके जो पुण्यबंध है उसका फल दिलाने वाला यह मरण ही है। इस प्रकार के सम्बोधन से समता परिणामी रहना सो साधु समाधि है।

कहा है 'अन्तमता सो मता'। कोई चाहे जीवन भर कितना ही घोर तपश्चरण क्यों न करे,यदि अन्तकाल में उसका मरण बिगड़ गया तो वह तप प्रशंसा योग्य नहीं। तप करने से मनुष्य लोक तथा देवलोक की सम्पदा चाहे कितनी ही क्यों न मिल जाये, परन्तु अन्त समय आराधना मरण नष्ट हो जाने से वह संसार परिभ्रमण ही करता रहेगा। अविनाशी पद की प्राप्ति नहीं होगी। जैसे किसी ने बड़ा कष्ट उठाकर देश देशान्तरों में भ्रमण कर बहुत सा धन उपार्जन किया। जब लौटते हुये अपने नगर के नजदीक आया तो धन दौलत सब लुट गया, दरिद्री हो गया, जैसी दशा उस समय इस मनुष्य की हुई वैसी ही दशा उस मनुष्य की होती है जो समस्त जीवन पर्यन्त तपव्रत संयम धारण करके अन्त समय में साधु समाधि भावना को नष्ट कर डालता है, ऐसा मनुष्य संसार में भ्रमण करके जन्म मरण का पात्र होता है। अतः मरण समय शरीर धन कुटुम्बादिक से ममत्व भाव त्यागे, क्रमशः आहारादि को छोड़ते हुये शरीर का त्याग करे, ऐसा यत्न करे कि शरीर छूट जावे और आत्मा के निज स्वभाव रूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का घात नहीं हो। इस प्रकार शरीर से ममत्व त्याग, समाधि भाव सहित मरण करे। देखो समाधि मरण एक बड़ा समारोह है,महोत्सव है। परन्तु लोक में जन्म का तो महोत्सव मनाते हैं पर मरण का महोत्सव नहीं मनाया जाता। समाधि जन्म सुना है क्या आपने ? नहीं सुना होगा लेकिन समाधि मरण यह सुना है। तो समाधि मरण में समता परिणाम

सहित मरण होता है, समाधि मरण का बहुत महत्व है। तीर्थंकर के गर्भ कल्याणक आदि महोत्सव मनाये जाने का कारण निर्वाण होना है, पंडित-२ मरण होना है।

मरण ५ तरह के होते हैं। बालबाल मरण, बाल मरण, बाल पंडित मरण, पंडित मरण और पंडित-पंडित मरण। मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बाल-बाल मरण कहते हैं। जो मोह से रह रहे हैं अज्ञान, ममता संक्लेश में मर रहे हैं वह तो है बालबाल मरण अर्थात् नादानों का मरण। बाल माने नादान नासमझदार, अज्ञानी और बालबाल माने डबल कम समझदार अर्थात् महामूढ़, महा अज्ञानी। ऐसे जीव का नाम है बालबाल मरण। यहां बाल से अर्थ बालक से है सिर के बाल से न समझ लेना। जैसे कोई एक्सीडेन्ट से बच जाये तो कहते हैं कि बाल-बाल बच गये तो यहां ऐसा अर्थ न लेना। बाल बाल मरण के माने बाल बाल मर गया न लेना। बल्कि बाल का अर्थ अज्ञानी से है यानि मिथ्यादृष्टि के मरण का नाम है बाल बाल मरण। बाल मरण संयम रहित सम्यग्दृष्टि जीव (अविरत सम्यग्दृष्टि) के मरण को कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जिसे व्रत न हुआ हो उस जीव को बाल कहते हैं बाल बाल नहीं। चारित्र की दृष्टि से तो बाल है किन्तु सम्यक्त्व की दृष्टि से बाल नहीं हैं। ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष के मरण का नाम है बाल मरण। बाल मरण में समाधि सम्भव है, व्रत न था किन्तु सम्यक्त्व सहित मरण हो तो उसे कुमरण नहीं कहते हैं। मोक्षमार्गी जीव का मरण यहां से प्रारम्भ होता है पर यह मोक्षमार्ग का अभ्यासी है अथवा यों कहो कि मोक्षमार्ग की ओर उसकी दृष्टि बनी है। बाल पंडित मरण कहते हैं संयमासंयमी श्रावक सम्यग्दृष्टि के मरण को। चूंकि वे नैष्ठिक श्रावक हैं, प्रतिमाधारी हैं इसलिये तो वह पंडित हैं किन्तु सकल संयम नहीं है इसलिये बाल हैं यों प्रतिमाधारी श्रावकों को बाल पंडित कहते हैं ऐसे बाल पंडित जीवों के मरण का नाम है बाल पंडित मरण। साधु पुरुष (सम्यग्दृष्टि संयमी मुनि) के मरण को पंडित मरण कहते हैं। जिसकी अन्तर्भावना विशुद्ध है और जो सर्व निर्दोषविधि से आत्म-स्वभाव में स्थिर हो सकें। सर्व विशुद्ध ज्ञान स्वभाव की उपासना में जो लोग रहते हैं। जिनके किसी भी कषाय भाव का संस्कार अन्तर्मूहूर्त से ज्यादा नहीं रह सकता। जल में रेखा खींची जाये तो वह जल में कितने समय तक रह सकती है ऐसी जिनकी क्रोध कषाय मंद है। और

बेल लता की तरह नम्रता से सम्पन्न हैं तथा मायाचार, कुटिलता लोभ तृष्णा के वश भी रंच न हों, ऐसे संत पुरुषों के मरण का नाम है पंडित मरण। यह पंडित मरण पूर्वोक्त सब मरणों में प्रशंसनीय है। धर्म की धुन वाला श्रावक भी यह कहता है कि भाई जब हमारा मरण काल हो तो हमारे सब कपड़े निकाल देना, नीचे लिटा देना, हम मुनि अवस्था में मरण चाहते हैं। तो देखो पंडित मरण की जिसकी भावना चलती हो वह मरण कितना प्रशंसनीय है। फिर जो वास्तव में पंडित हो, साधू पुरुष हो, उसके मरण का तो लोक प्रभावना में भी और उसके लिये भी बहुत बड़ा महत्व है। ऐसे इस साधु समाधि की भावना रखना सो साधू समाधि भावना है। साधू माने भले प्रकार से, समाधि माने समाधान बनाना। सर्वदा भला समाधान बनाये रहना इसको कहते हैं साधु समाधि। हट्टे कट्टे सब प्रकार की अनुकूलता में, आनन्द में जीवन बिता रहे हों उस समय भी, जीवन के उपद्रवों के समय भी तथा उपसर्गों और मरण के समय भी सद्बुद्धि रखना सो साधू समाधि है। मृत्यु की अनिवार्यता की बात तो सभी करते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि ही मृत्यु महोत्सव को जन्मोत्सव की तरह आनन्दपूर्वक मना सकता है। तत्व-ज्ञान रूपी औषधि का निरन्तर सेवन उसे प्रत्येक परिस्थिति में आन्तरिक विश्रान्ति प्रदान करता है और इसीलिये वह विपत्तियों में भी अविचलित रहता है। तत्व ज्ञान हमें जीवन भी सिखाता है, क्षमता पूर्वक प्राण त्याग ने की कला भी सिखाता है। साधु समाधि के लिये उपाधि त्यागनी पड़ती है, आधि, व्याधि और उपाधि से रहित अवस्था ही साधु समाधि है। आधि कहते हैं मानसिक विकल्पों को, चिन्ताओं को जहां से शान्त हो जायें उस स्थिति को समाधि कहते हैं। यदि इसके एक क्षण के लिये आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर, आत्म ध्यान की स्थिति बन जाये तो यह परमात्मा बन जाये, संसार अवस्था से मुक्त हो जाये। साधू समाधि की भावना का फल पंडित पंडित मरण है, निर्वाण है। समाधि मरण भावना की सर्वोपरि महिमा है इसका दिग्दर्शन नित्य नैमित्तिक क्रियाओं में मिलता है। सम्मं समाहि मरणं, जिणगुण सम्पत्ति होऊ मज्झं। दुक्खक्खयो कम्मक्खयो बोहि लाहो, समाहि मरणं च आदि।

केवल मरण के समय ही नहीं, साधु समाधि भावना हर समय के लिये उपयुक्त है। सदैव हित कारक, भला, सम्यक् उचित समाधान बनाये रहना, अपना स्वसम्वेदन जागृत रखना सो साधु समाधि है। ज्ञानी पुरुष अपना सम्यक् समाधान तो हर परिस्थिति में रखता ही है, संसार के अन्य प्राणियों पर भी ऐसी सद्बुद्धि रखने की भावना करता है। स्व-पर कल्याण के अर्थ इस भावना को निरन्तर भाना चाहिये।

अपने आपके चित्त का निरन्तर समाधान होना सो साधु समाधि है। देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत उपद्रव और उपसर्गों के समय भी ज्ञानी साधु के भय नहीं होता। भय का कारण तो धन और जीवन की वान्छा है। ज्ञानी पुरुष के तो ज्ञान ही उसका धन है और ज्ञान विशिष्ट आत्मा ही उसका जीवन है तब फिर उसे धन हानि में असमाधि भाव क्यों बने, अज्ञानी को होता है धन हानि का भय। उसे अपनी वास्तविक निधि का परिचय न होने से क्षोभ रहता है। पर ज्ञानी तो सोचता है कि जो मैं हूं, जो मेरा स्वरूप है वह मेरेसे अलग नहीं हो सकता, मैं तो सदा सुरक्षित हूं. ये बाहरी चीजें मुझ से अत्यन्त न्यारी हैं, कुछ और न्यारी हो गई तो हो जाने दो। यों ही जीवन का भी एक भय रहता है। पर्याय बुद्धि वाले को, जो शरीर को ही यह मैं आत्मा हूं ऐसा मानता है उसके, मैं बीच में ही कहीं मर न जाऊं मेरा जीवन खतम न हो जाये, ऐसा भय निरन्तर वर्तता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि यह मैं आत्मा शरीर से भिन्न हूं, अमर हूं, अपने चैतन्य प्राणों से जीता हूं, ज्ञानानन्द स्वरूप हूं सच्चिदानन्दमय हूं, गुप्त हूं इस बल पर उसे असमाधि भाव नहीं उठते। उसे दृढ़ प्रतीति है कि इस दृश्यमान पदार्थों में मेरा एक परमाणु मात्र भी नहीं हैं, सब असार है, मायामय है, जो कुछ भी धन कुटुम्बी, मित्र जन यहां संयोग में आये हैं सब मिट जाने वाले हैं। पर मोही प्राणी करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तितम्, मरिष्यामी मरिष्यामि मरिष्यामिति विस्मृतम्। जो अपने ज्ञान बल से अपने चित्त को समाधान रूप रख सकते हैं उनसे बढ़ कर दुनियाँ में कोई वैभववान नहीं हैं। लाखों और करोड़ों का धन हो और चित्त हो, परेशान, विषयों की वासना के कारण तो बताओ उसने कुछ अमीरी पायी क्या? वह तो बना भिखारी निपट अजान, इस स्थिति से मुक्त नहीं हैं।

ज्ञानी पुरुष को शरीर में रोग हो जाने का भय भी नहीं रहता। वह तो देह का मिलना ही महारोग समझता है फिर वेदना होने पर बड़े कठिन रोग से ग्रस्त होने की परिस्थिति में भी ज्ञानी पुरुष अपने चित्त को समाधान रूप रखता है। आपने पुराण पुरुष सनत्कुमार चक्रवर्ती का नाम सुना होगा। वे काम देव भी थे। एक बार उनके रूप सौन्दर्य के सम्बन्ध में स्वर्गों में चर्चा हो रही थी। सौधर्मेन्द्र अपनी सभा में व्याख्यान कर रहा था कि मनुष्य लोक में सनत्कुमार चक्रवर्ती से बढ़कर अन्य कोई रूपवान नहीं है, दो देवों के मन में आया कि मनुष्यलोक में सर्वोत्कृष्ट रूपवान ऐसे चक्रवर्ती के रूप को देखना चाहिये। वे दो देव आये मनुष्य लोक में और पहुँचे उस समय जिस समय कि सनत्कुमार अखाड़े में व्यायाम करने के बाद, धूल से लथपथ बैठे हुये थे उन देवों ने देखा तो देखते ही बोले, वाह बहुत सुन्दर सनत्कुमार का रूप है, जैसा सुना था स्वर्गों में, वैसा ही रूप है। तो पास खड़े हुये अंगरक्षक लोग कहते हैं कि अभी इनका क्या रूप देखा है? जब ये शृंगार करके राज्याभूषण पहिनकर सिंहासन पर दरबार में बैठे हुये होंगे, तब देखना इनका रूप, कितना सुन्दर लगेगा। देवों ने कहा अच्छा आज ही देखेंगे। अब तो जानबूझकर बड़ा शृंगार बनाकर, दरबार को सजाकर, बड़ी तैयारी करके सनत्कुमार को बैठाया। देवों ने आकर देखा तो सनत्कुमार दोपहर के समय राजदरबार में आये और देखकर कहते हैं कि अब वह रूप तो नहीं रहा। अंगरक्षक लोग बोले ओह! महाराज इतने शृंगार से बैठे हैं फिर भी कह रहे हैं कि वह रूप नहीं रहा। तो वे देव प्रयोग करके बताते हैं, कहते हैं कि अच्छा एक घड़ा पानी ले आवो, जल से भरा घड़ा रखा गया, उसमें एक पतली सींक डाल दी फिर सींक को बाहर अलग किया तो उसमें से एक बूंद पानी बाहर गिर गया। देवों ने कहा कि बताओ इस घड़े में से कुछ पानी घटा कि नहीं घटा। अब उसमें घटा हुआ कैसे दीखे। और युक्ति बताना नहीं है कि पानी घट गया। यों ही क्षण-२ में रूप और आयु सभी चीजें घटी चली जा रहीं हैं। दूसरी बात यह है कि जब कोई मन में मद भाव रखकर बैठता है कि मैं शृंगार सहित बैठूं, आज बहुत बढ़िया लगना चाहिये तो उसके मुख पर सुन्दरता आ ही नहीं सकती है।

ये ही सनत्कुमार चक्रवर्ती जब विरक्त होकर वन में निर्ग्रन्थ होकर तपश्चरण कर रहे थे तो उस मुनि अवस्था में, जहाँ उनके किसी पूर्व

असाता कर्म का उदय आ जाने से, सारा शरीर कुष्ट रोग से ग्रस्त हो गया। वहां फिर वे ही देव अपनी सभा में सनतकुमार चक्री की परमोपेक्षा का गुणानुवाद सुनकर परीक्षा करने आये। जंगल में पगडण्डी पर,वैद्य का रूप रखकर घोषणा करते हुये फिरने लगे तिस पर भी चक्री मुनि ने न बुलाया। तब देव स्वयं उन मुनिराज के पास जाकर बोले कि मेरे पास कुष्ट रोग मिटाने की अचूक दवा है आप इलाज करा लीजिये तब वे मुनि बोले कि यदि आप जन्म मरण के रोग को मिटाने की दवा कर सकते हों तो कर दीजियेगा। मुझे अन्य दवा की जरूरत नहीं। देव इतनी परमोपेक्षा देखकर लज्जित होकर चरणों में गिर पड़ा। तो ज्ञानियों के शारीरिक रोग के समय भी समाधिभाव रहता है। जब कि अज्ञानी का चित्त निरन्तर असमाधिभाव में रहता है। देखो न तभी तो शारीरिक सुन्दरता बढ़ाने के लिये क्रीम, पाउडर, लिपिस्टक आदि पोतते हैं मुंह पर,ओठों पर। सोचते हैं अच्छे लगेंगे जबकि और विरूपता में शामिल हो जाती है वह बनावट। इनका चित्त समाधि में रहता ही नहीं। समाधिभाव तो धीर, गम्भीर रहें, रागद्वेष मोह से परे रहें, विषय कषायों के चक्र में न उलझें तब कहलाता है। सत्यभाव में रहना, समता भाव में रहना होगा यदि धर्म करना है तो। बाहर में नहीं मिलेगा कहीं अपना धर्म। बाह्य प्रशस्त पदार्थों की सेवा, उपासना तो इसलिये है कि अपने में समाधि भाव प्रगट रहने का बल बना रहे। वास्तव में तो अपना काम अपना चित्त समाधान रूप बनाने से होगा। चित्त की समाधानता के लिये निज ज्ञायक स्वरूप की उपासना आवश्यक है।

आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य ने कहा है कि—

> समबोध वृत्त तपसां पाषाणस्यैव गौरवं पुंसः।
> पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्व संयुक्तं॥

सम्यक्त्व के बिना कषायों की मंदता, ११ अंग ९ पूर्व का ज्ञान, चारित्र और तपश्चरण ये सब पाषाण की तरह बोझ हैं और यही बातें सम्यग्दर्शन सहित हों तो महामणि की तरह पूज्य हैं। देखा होगा आपने माणिक और पत्थर। माणिक कितना छोटा होता है किन्तु लाखों करोड़ों की कीमत रखने वाला होता है और यह पत्थर जिससे मकान बना करते हैं, ये देशीपाषाण कितने ही ढेर किये जायें तो एक

मणि के बराबर मूल्य नहीं रख सकते तो जैसे मणि का लोक में आदर है और उस पत्थर के ढ़ेर का आदर नहीं है वैसे ही सम्यक्दर्शन सहित यदि चारित्र व्रत, तप हो तो उनकी पूज्यता है, आदर है, महिमा है और सम्यकत्व बिना ये सब बातें, क्रियायें भार हैं पाषाण की तरह बोझ है। अपने आपकी दृष्टि हो जाना, स्वरूप दर्शन हो जाना ही समाधि भाव है।

इस तीन लोक में सुख दुःख की समस्त सामग्री इस जीव ने अनन्तबार पाई, अनन्त जन्म पाये, मरण किये, संपदा पाई, कोई चीज दुलभ नहीं रही, परन्तु समाधि का लाभ दुर्लभ रहा। समाधि लाभ के अनन्तर यह जीव कृतार्थ हो जाता है। समाधि भाव के प्रेमी ज्ञानी संत जब कभी दूसरे धर्मात्माजनों पर संकट आया देखते हैं तो उन सब संकटों को दूर करने का उनका यत्न चला करता है। ऐसे साधु जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर, अपने मन के घोड़े को लगाम लगा कर, समाज सेवा में ऐसे जुटे रहते हैं जैसे हवा आकाश में बहकर प्राणीमात्र को प्राण देती रहती है या जैसे सूर्य ताप और चन्द्रमा शीतलता दान करता रहता है या जैसे वृक्ष और जड़ी-बूटियाँ अपने फलों-रसों द्वारा समाज का उपकार करतीं रहतीं हैं। ऐसे ही पुरुष धर्म के नेता तीर्थकर बनते हैं। समाधि भाव एक अलौकिक वैभव है। दुःख का समूल उन्मूलन करने वाली साधु समाधि भावना है। अतः हमें चाहिये कि हम स्वयं अपने आपको समाधि रूप बनाने का यत्न करें और यथाशक्ति अन्य जीवों के चित्त को समाधिरूप बनाने का यत्न करें, समाधि का परिणाम रखें यही साधु समाधि भावना है।

वैयावृत्य

तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारण भूत भावनाओं में साधु समाधि भावना के बाद अगली भावना का नाम है वैयावृत्य। जिस ज्ञानी पुरुष ने जीवन में साधु समाधि भावना का अभ्यास किया है वह पुरुष वैयावृत्य करने का सदा भाव रखता है। वैयावृत्य करना ज्ञानी पुरुष को सिखाना नहीं पड़ता, उसमें स्वयमेव ही ऐसी व्यवहार की कलायें प्रगट होतीं हैं। लोक में धर्मी ज्ञानी पुरुष दूसरे धर्मात्मा पुरुषों की योग्य वैयावृत्य करते हैं। किसी के कोई कठिन रोग हो जाये ऐसी स्थिति में उसकी सेवा, टहल, वैयावृत्य करना उसे आराम और सुविधा पहुंचाने की भावना करना सो वैयावृत्य नामकी ६वीं भावना है। लोक में वैयावृत्य का अर्थ होता है सेवा, परन्तु वैयावृत्य शब्द में मूल अर्थ पड़ा हुआ है यह, कि जो व्यावृत्त पुरुष हैं उनके परिणाम को वैयावृत्त कहते हैं। व्यावृत्त पुरुष का अर्थ है जो आरम्भ परिग्रह, रागद्वेष झंझट इन बातों से निवृत्त हो गया है, रिटायर्ड पुरुष की वृत्ति का नाम है वैयावृत्य। जो संसार शरीर और भोगों से रिटायर्ड हो गया है उसका जो परिणाम है उस परिणाम का नाम वैयावृत्य है। तो देखो उस व्यावृत्य पुरुष के परिणाम पर से तो दृष्टि ओझल सी करदी और उस परिणाम के फल में जो चेष्टा हुई उसको ले लिया क्योंकि जो ज्ञानी है, विरक्त है ऐसे पुरुष का परिणाम धर्मात्मा जनों को देखकर उनके दुःख दूर करने का अवश्य होता है।

आप में से बहुत से ग्रहस्थ हैं, आपको माँ बाप बनने का सौभाग्य प्राप्त है। आप सोचिये कि बच्चों कि माँ को रात को बच्चों की पेशाब कराने उठने में या बीमारी में उसका माथा दबाने में, पेट सहलाने में, जांघें थपथपाने में या पांव रोलने में आनन्द आ रहा होना है या कष्ट होता है। इसी प्रकार पिता को अपने बच्चे को हर सुविधा जुटाने में प्रसन्नता होती है या तकलीफ। उसे जवानी में नींद का मामूली धक्का आपे से बाहर कर देता था, वही धक्का अब फुर्ती उत्पन्न कर देता है, एकदम चरपाई से कुदाकर दो पाँव पर खड़ा कर देता है और चट वहाँ पहुंचा देता है जहाँ से किसी बालक या बालिका के रोने की आवाज आ रही होती है। आखिर खून पानी से गाढ़ा होता है यह खून का कमाल है। तो खून से धर्म और भी गाढ़ा होता है तो सोचिये

जिसमें वैय्यावृत्त धर्म की भावना उदित हुई है, जो धर्म नेता बनने जा रहा है, वो कितना ऊंचा समाज का सेवक होगा और उसे समाज सेवा में, साधू सेवा में माँ बाप की तरह आनन्द नहीं आयेगा क्या? उसे वैयावृत्ति में कष्ट उसी तरह नहीं होता जिस प्रकार कि माँ बाप को अपने बच्चों की सेवा में कष्ट नहीं होता।

रोगी, बूढ़े, थके साधुओं तथा श्रावकों की निर्दोष आहार, औषिध, वस्तिकादि द्वारा सेवा सुश्रूषा करना, उपसर्ग आने पर किसी आपत्ति या संकट के पड़ने पर पापरहित विधि से उस संकट को दूर करना और उनकी सेवा करना वैयावृत्य है। रोगी साधु श्रावकों की सेवा, वह धर्मात्मा पुरुष मैं कुछ उन पर अहसान कर रहा हूँ इस दृष्टि से नहीं करता। परन्तु निष्कपट भाव से शुद्ध आशय सहित, उनको संकटों से बचाना, धर्म में उन्हें स्थिर करना यह आशय रहता है उसका। वह बहुत प्यार से भक्ति से उनकी सेवा करता है, उसे न कोढ़ लगने का भय रहता है और न प्लेग का। न जाने वह किस धातु का बन जाता है। जैसे आत्मा को न आग जला सकती, न शस्त्र काट सकता और न हवा सुखाती है। इसी प्रकार वैयावृत्य करने वाले के देह में न उड़नी बीमारी लगती है न छूत की। वह बड़ी तन्मयता से, मन की उंचाइयों से सेवा भाव में रत रहता है। वैयावृत्य करते समय वह अपने को सेवक मानता है, सेवा ही उनके प्राण होते हैं। जैसे ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय जब एक हो जाते हैं तब ही ज्ञान की पूर्णता मानी गई है, इसी प्रकार सेव्य, सेवा, सेवक सब मिलकर जब एक हो जाते हैं तब सेवा धर्म पूर्णता को पहुँचता है और ऐसा पुरुष तीर्थंकर प्रकृति जैसी महान उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति का बंध कर धर्मनेता रूप से त्रैलोक में चमकता है। जिसको रंच मात्र भी घमंड नहीं, विनय सम्पन्नता से भरपूर है वह। देखो उसकी दृष्टि कि सेवा ही मेरी खुराक है ऐसा वह मानता है और तब वह अवश्य यह समझता है कि जिनकी मैं सेवा कर रहा हूँ वे मुझ पर अहसान कर रहे हैं क्यों कि मुझे खुराक दे रहे हैं, मैं उन पर नहीं अहसान कर रहा हूँ। मुझे उनका उपकृत होना चाहिये न कि उनको मेरा। ऐसी वैयावृत्य भावना से सम्पन्न पुरुष को कभी थकान नहीं आती और उसके चेहरे पर सदा प्रसन्नता खेलती है। सेवा धर्म एक बड़ा धर्म है इसमें बड़ा आनन्द होता है, क्योंकि सेवा में मोह का त्याग होता है और जहां त्याग है वहां सुख है, आनन्द है।

मुनि, मुनियों की वैयावृत्य करते हैं, श्रावक, श्रावकों और मुनियों की दोनों की वैयावृत्य करते हैं। परोपकार सेवा टहल सब ही वैयावृत्य है। वैयावृत्य बहुत शुद्ध कर्त्तव्य है, इसका सम्बन्ध केवल पगचांपी या अन्य कार्य की चेष्टा मात्र से या कोई सेवा कर देने से नहीं, बल्कि वैयावृत्य करने वाले के स्वयं के विशुद्ध आशय से है। वैयावृत्य १० प्रकार के मुनीश्वरों की की जाती है अतः वैयावृत्य के १० भेद कहे गये हैं। और वैसे व्यापक दृष्टि से तो सारे विश्व के प्राणियों के प्रति व्यावृत्त पुरुष का वैयावृत्य रूप भाव होता है।

१. आचार्यों की वैयावृत्य—यानि जिनके समीप रहकर स्वर्ग मोक्ष के साधक व्रतादिक का आचरण किया जाता है, ऐसे सबकी रक्षा करने वाले आचार्यों की वैयावृत्य करना।

२. उपाध्यायों की वैयावृत्य-जो सर्व साधु संघ को आगम का अध्ययन करायें, ऐसे व्रत शील श्रुत के आधार उपाध्यायों की वैयावृत्य करना।

३. तपस्वियों की वैयावृत्य—महान अनशनादि तपों की प्रधानता जिनमें हो ऐसे, तपस्वि साधुजनों की वैयावृत्य करना।

४. शैक्ष्य साधुओं की वैयावृत्य—जो निरन्तर श्रुत के शिक्षण में और व्रतों की भावना में तत्पर रहते हैं, ऐसे शैक्ष्य साधुओं की वैयावृत्य करना।

५. ग्लान साधुओं की वैयावृत्य—जो रोग से कमजोर संत हों, उनकी वैयावृत्य करना।

६. गण मुनियों का वैयावृत्य—वृद्ध मुनियों की, परम्परागत मुनियों की वैयावृत्य करना।

७. कुल साधुओं का वैयावृत्य—आदर्श योगियों का अनुआयी हो, स्वयं को शिक्षा देने वाले आचार्य का शिष्य हो, ऐसे कुल साधुओं की वैयावृत्य करना।

८. चिरकालके दीक्षित—सर्व साधुओं के संघ की वैयावृत्य करना।

९. मनोज्ञ साधुओं की वैयावृत्य—जो लोक में मान्य हो, सर्व का मन हरण करने वाला हो, ऐसे मनोज्ञ साधुओं की वैयावृत्य करना।

१०. अनगार सर्व साधुओं की वैयावृत्य करना।

इन १० प्रकार के मुनियों के कोई रोग आ जाये, परिषहों से खेद हो जाये या श्रद्धानादि बिगड़ जाये तो उनकी तन, मन, धन, वचन से सेवा करना, उपकार करना सो सब वैयावृत्य है। शुद्ध भाव से की हुई सेवा का नाम वैयावृत्य है। केवल शारीरिक सेवा का नाम वैयावृत्य नहीं है। वैयावृत्य को अन्तरंग तप में गिना है और अन्तरंग तप में अपने अन्तरंग परिणामों की प्रमुखता है अतः वैयावृत्य पुरुष का जो मोक्षमार्ग सम्बन्धी विशुद्ध परिणाम है, सेवा का यत्न है वह वैयावृत्य है जिसमें परमार्थ करुणा बसी हुई है।

भैया! तन, मन, धन, वचन सब योग्यता पाई है तो अपनी इन प्राप्त हुई शक्तियों का सदउपयोग करने में ही जीव का भला है। देखो शरीर हृष्टपुष्ट पाया है सब प्रकार से स्वस्थ्य है, इन्द्रियाँ सभी व्यवस्थित हैं तो इसे प्रमाद में रखा जाये, सुखिया आराम तलबी बनाया जाये तो क्या लाभ पा लिया जायेगा, आखीर समय आने पर क्षीण होगा और आयु क्षय पर नियम से मरण हो जायेगा। अतः जब तक इसका संयोग है तब तक इससे दूसरों का उपकार करना ही योग्य है, उपकार में इसे लगाने से यह शरीर भी ठीक रहेगा और अपने परिणाम में भी निर्मलता रहेगी, विवेक रहेगा। शरीर को आलस्य रूप में बनाये रखने से तो शरीर का भी विनाश है और जीव का भी अहित है। इसी प्रकार से पाये हुये इस श्रेष्ठ मन के बारे में भी सोचो। इस मन को पाने का सद-उपयोग तो यही है कि हमेशा दूसरों का भला सोचा जाये, सब जीव सुखी रहें, सब मंगलमय मार्ग पर आरूढ़ हों, कभी किसी को किसी प्रकार की पीड़ा ना होवे, पापाचार से सब विरक्त रहें, इस प्रकार से अपने मन की वृत्ति रखना चाहिये और यदि अनन्तकाल में कठिनता से पाये हुये मन का दुरुपयोग किया, दूसरों का बुरा विचारा, गन्दे मन के विचार रखे तो इसका फल यह होगा कि फिर मन मिलना भी सम्भव न होगा, असंज्ञी ऐकेन्द्रियादि की पर्यायों में भ्रमण करना पड़ेगा। धन मिला है तो इससे राग करने में आत्मा का हित नहीं क्योंकि ये धन तो अनर्थ का ही कारण है, ऐसा जानकर इस पुण्योदय से प्राप्त धन का भी सद उपयोग कर लिया जायेगा तो कुछ लाभ है अन्यथा इसको पाकर क्या मिला.

उतारोगे, पर के उपकार में न लगाया तो वह धन तो बिजली की तरह चंचला है, नष्ट हो जायेगा तब पछताना ही शेष रहेगा अतः धन का सदुपयोग दान करने में है, दीन दुःखी के उपकार में लगाने से है। इसी प्रकार वचन बोलने की क्षमता प्राप्त हुई है तो नम्रता भरे हितमित प्रिय सत्य वचनों का व्यवहार करें। यदि इन वचनों का दुरुपयोग किया तो फिर रसना इन्द्रिय भी न मिलेगी। धर्म कथा, धर्मोपदेश की बात कहकर जीवों को कल्याण मार्ग सुझायें ताकि उनको सम्यग्ज्ञान और वैराग्य रूप यथार्थ मोक्ष मार्ग मिले इसमें वचनों का सदुपयोग है। व्यवहार में भी अपना वचन व्यवहार ऐसा रखें और बनायें कि जिससे स्वयं भी सुखी हों और अन्य लोग भी सुखी हों। देखो असत्य, अप्रिय, अहितकारी वचन बोलकर स्वयं भी दुखी बन जाते और अन्य को भी दुखी कर देते, सारा वातावरण अशान्तिमय हो जाता है। अतः कभी भी अन्याय पूर्ण वचन की प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। प्राप्त तन, मन, धन, वचन का सदउपयोग करके, वैयावृत्य का परिणाम बना करके मनुष्य जीवन को सफल बनाना चाहिये। यह तो व्यवहार वैयावृत्य की बात कही। परमार्थ में तो अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को रागद्वेषादिक दोषों से लिप्त नहीं होने देना, उनसे सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना सो निश्चय वैयावृत्य है, आत्मा का वैयावृत्त है। अपने आत्मा को भगवान के परमागम में लगाये रखना, दसलक्षण धर्म तथा रत्नत्रय धर्म में लीन रखना, इन्द्रिय विषयों के आधीन नहीं होने देना, कषाय भावों से प्रथक रखना सो आत्मा का वैयावृत्तहै निज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप अन्तरस्तत्व की दृष्टि रखना, उसका आश्रय करना, निकट रहना उसके, यह है पुरुषार्थ की बात। काम तो यही करना है कि अपने निज स्वरूप का संस्कार रखें और आत्म-निर्मलता को प्राप्त करें लेकिन ऐसा उपयोग न बनाया जा सके तो पर के उपकार में अपनी वृत्ति रखें। पर का उपकार भी वस्तुतः अपने भले के लिये ही तो है। परिणाम हमारा सही रहे, विषय कषायों में न बह जाये इसलिये परोपकार किया जाता है, परोपकार ताना देने के लिये, दूसरों पर एंठ बगराने के लिये नहीं किया जाता बल्कि विवेकी जीव अपनी रक्षा के अभिप्राय से करता है परोपकार। उपद्रव के

समय महामारी हो जाने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, दीन दुःखी जीवों को स्थान देकर, आहार वस्त्र औषधि आदि का प्रबन्ध करना, उनकी पीड़ा करुणा बुद्धि पूर्वक यथाशक्ति दूर करना सो सब वैयावृत्य है, परोपकार है। परोपकार करके भूल जाना चाहिये कि मैंने किसी का परोपकार किया। शांति के अर्थ यथार्थ ज्ञान भावना होना चाहिये। इसका साक्षात उपाय तो यह है कि ज्ञान और ध्यान में लवलीन रहें, यथार्थ तत्व के ज्ञाता रहें और शुद्ध ध्यान रखें, आत्मदृष्टि करें, अपना स्वच्छ परिणाम बनावें और यह न हो सके तो परोपकार में लगें लेकिन परोपकार को तुरन्त भूल जावें।

जो पुरुष तन मन धन से समर्थ हैं और अपने बल को छिपाते हैं, वैयावृत्य नहीं करते हैं वे अपनी उदारता का घात करते हैं और धर्म रहित हैं। दुःखी रोगी अशरण पुरुषों को देखकर, धर्मात्मा जनों को देखकर, उनकी सेवा करने का परिणाम नहीं हो तो उन्हें धर्म रहित समझना चाहिये। धन खर्च देना सुलभ है परन्तु रोगी की टहल सुश्रूषा करना कठिन है। जो रोगियों की वैयावृत्त नहीं करता, दानादिक से उनका उपकार नहीं करता वह तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा का पालन करने से अपराधी है। अपना आचरण उन्होंने बिगाड़ा है और धर्म की प्रभावना नहीं की है। और विचारो, धर्म कहीं निराधार तो नहीं रहता जो धर्मात्मा हैं वही तो धर्म की मूर्ति हैं। जो मन्दताग रहित हैं, जिनके मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाता है, जो संसार के विषय भोगों की वान्छा रहित हैं, जो संसार परिभ्रमण से भयभीत हैं, जिनके चित्त में जिनेन्द्र प्रभु की मेरु समान निश्चल भक्ति है, वे ही धर्मात्मा पुरुष वैयावृत्य किया करते हैं। जिनके हृदय में दया है, अहिंसा है, उसके वैयावृत्य है। जिनेन्द्र प्रभु की शिक्षा है कि वैयावृत्य जगत में श्रेष्ठ धर्म है जो कोई श्रावक या साधु वैयावृत्य करते हैं वे सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त होते हैं वैयावृत्य के माहात्म्य को समझ कर हमें नितप्रति भावना करनी चाहिये कि हम अपने जीवन में वैयावृत्य का पालन यथार्थ रीति से करते रहें। वैयावृत्य करने वाला पुरुष यदि अपने विशुद्ध परिणाम से तीर्थंकर प्रकृति का बंध करे, धर्म का नेता बने तो वह ठीक ही है। क्योंकि जो सेवक होता है वही स्वामी बनता है। गौतम बुद्ध के जीवन की घटना है कि एक बार

बाण से घायल पक्षी को उन्होंने अपनी गोद में पाया तो शिकारी आकर कहने लगा कि यह मेरा शिकार है इसे मुझे दे दो। बुद्ध बोले कि यह हंस तुम्हारा नहीं है। शिकारी लड़ने लगा और जोर से बोला तुम्हारा कैसे है? हमने ही तो इसका शिकार किया है, यह मेरे बाण से ही तो घायल हुआ है। गौतम बुद्ध बोले कि सोचो मालिक मारने वाला होता है या रक्षा, सेवा करने वाला। तो भैया जो प्राण ले वह मालिक नहीं है, जो प्राणों की रक्षा करे वह मालिक है। देखो न घर में रहने वाला बड़ा बूढ़ा आदमी जो घर का मालिक कहलाता है, घर का स्वामी कहलाता है वह घर का स्वामी यों ही नहीं कहलाने लगा, घर के उन १०-५ लोगों की बच्चों की दिन रात सेवा करता है, उस सेवा के बदले में वह घर का स्वामी कहलाता है। तो जो सर्व विश्व की रक्षा का भाव करे वही तो विश्व का नेता बन सकता है। ज्ञानी अन्तरात्मा के विश्व के समस्त प्राणियों की सेवा का भाव रहता है और केवल भावना ही नहीं अपितु उस तरह का आचरण भी होता है कि जिससे विश्व के प्राणियों का कल्याण हो तो ऐसी वृत्ति में, ऐसे भाव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। वैयावृत्य के रुचिया पुरुष में अनेक गुणों की प्रगटता सहज ही हो जाती है। उसका अन्य के दोष ढ़कने का और उसके गुण प्रगट करने का स्वभाव बन जाता है। उसके धर्म में प्रीति बढ़ती है रत्नत्रय के धारण करने वाले उत्कृष्ट पात्रों का लाभ मिलता है अतः वह रत्नत्रय से अपना सम्बंध जोड़ कर, स्व-पर को मोक्ष मार्ग में जोड़ने वाला होता है। जो पुरुष अपनी सामर्थ्य प्रमाण ६ काय के जीवों की रक्षा में सावधान है उसके समस्त प्राणियों का वैयावृत्य होता है। वैयावृत्य करने वाले पुरुष के निर्विचिकित्सा, वात्सल्य, स्थितिकरण और मार्ग प्रभावना आदि सम्यकत्व के गुण स्वतः आ जाते हैं। उसके अन्दर मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ जैसी उदात्त भावनायें आ जाती हैं और उसका जीवन सुखी बन जाता है। वैयावृत्य का भाव, परिणाम विशुद्धि का कारण है तथा यही संवर और निर्जरा का कारण बनकर मोक्ष प्राप्त करा देता है। अस्तु यदि हमें जीवन मिला है तो संसार में निष्कपटता से वात्सल्य भाव और वैय्यावृत्ति से रहना ही सर्वोत्तम हैं।
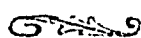
हैं, यह मनुष्य दोषों का घर तो है ही, न जाने कैसे-२ दोष हो जाते है जिनके कहने में भी लज्जा आती है, ऐसे भी दोष साधु जन अपने कल्याण की भावना से आचार्य से आवेदित करते हैं। परन्तु आचार्य महाराज उन दोषों को हृदय में यों पी जाते हैं अथवा बुझा डालते है कि किसी भी तीसरे व्यक्ति को पता नहीं हो सकता कि इस शिष्य ने क्या अपराध किया, यह आचार्य का महागुण है। जैसे गरम तवे पर पानी की बूंद गिरा दी जाये तो वह बूंद क्या दिखती भी है? उसका कुछ पता भी रहता है? यों ही आचार्य महाराज के उपयोग में शिष्यों के अपराध यों गुप्त रहते हैं कि वे किसी भी मनुष्य को शिष्य का अपराध नहीं बखानते हैं। देखा होगा कि बच्चों की थोड़ी-२ लड़ाई में बच्चे कह बैठते हैं कि देखो हम तुम्हारी बात कह देंगे। बात कुछ न हो, पर उनकी ऐसी आदत है। मनुष्य भी संसारी लोग जरा सी लड़ाई से इतने असहनशील हो जाते हैं कि दूसरे की गुप्त मंत्रणा को प्रगट कर डालते हैं। पर आचार्य परमेष्ठी का हृदय इतना उदार होता है कि कोई शिष्य चाहे शिष्य न भी रहे, चाहे वह विधर्मी हो जाये, चाहे उसकी कुछ भी परिस्थिति बने तिस पर भी शिष्य द्वारा की गई आलोचना को प्रगट नहीं करते हैं। यदि आचार्य शिष्य के दोष अन्य को प्रगट कर देवे, तो कोई शिष्य दुःखी हो आत्म घात कर सकता है, क्रोधी हो तो रत्नत्रयका ही त्याग कर दे, या अन्य संघ में अवज्ञा कर चला जाये आदि अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है। और फिर वह ऐसा गुरु अधम है विश्वासघाती है। अतः आचार्य को अपरिस्रावी गुण का धारी होना आवश्यक है। यही उनका अपरिस्रावी गुण हैं।

८-निर्यापक :—जिस प्रकार कि खेवटिया नाव को समस्त उपद्रवों से दूर कर पार उतार ले जाता है, उसी प्रकार आचार्य भी संसार रूपी समुद्र के अनेक विघ्नों से बचा कर पार करने में तत्पर रहते हैं, इस प्रकार आचार्य जन अपने शिष्यों का निर्यापन करते हैं। यह आचार्य का निर्यापन गुण है।

उक्त आचार्य के जो ८ महागुण कहे गये हैं इन गुणों के धारी आचार्यों के गुणों में अनुराग होना सो आचार्य भक्ति है। ऐसे उपकारी आचार्य परमेष्ठी अपने माता पिता के समान रक्षक हैं, मोक्षमार्गियों के साक्षात पथ प्रदर्शक तो आचार्य परमेष्ठी ही हैं। इनकी विशालता और महानता का वर्णन कौन कर सकता है? आचार्य समस्त धर्म के नायक हैं, अधिपति हैं, उनके आधार ही समस्त धर्म की प्रवृत्ति है।

लो देखो, करो अपने परोमोपकारी श्री कुन्दकुन्दाचार्य का स्मरण। वे १०-१२ वर्ष की आयु में ही मुनि बन गये थे। कहते हैं कि कुन्दकुन्दकी माँ जब बचपन में कुन्दकुन्द को पालने में झुलातीं थीं और लोरियां गातीं थीं तो क्या बोला करतीं थीं वे "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंज्जनोऽसि, संसारमाया परिवर्जितोऽसि। संसार स्वप्नं त्यज मोह निद्रां, श्री कुन्दकुन्द जननीदमूचे॥" हे कुन्दकुन्द तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरज्जन है। संसार की माया से परे है, संसार के स्वप्नों को. मोह की निद्रा को त्यागो। तो सोचलो प्रारम्भ से ही ऐसी अध्यात्मवाणी जिसने सुनी हो उस संतान का क्या कहना? अल्पकाल में ही वे उस समय सर्वसाधुओं के प्रमुख नायक हो गये। जब उनके अध्यात्म ग्रन्थों को समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि को पढ़ते हैं तब उनके अन्तरंग की पहिचान होती है और भक्ति का प्रवाह उमड़ता है। इसी प्रकार विद्यानन्दी आचार्य की बात देखो,कहां तो महापंडित विप्र राजा के प्रमुख पुरोहित और जैनधर्म के द्वेषी और कहाँ देवागमस्तोत्र का पाठ सुनकर उनका भ्रम जाना और स्तोत्र के रहस्यपूर्ण अर्थ को जानकर जैनधर्म के प्रति दृढ़ भक्ति का उमड़ना वे भी निग्रन्थ बने और श्लोकवार्तिक, अष्ट सहस्त्री आदि न्याय ग्रन्थों की रचना की। इसी प्रकार समंतभद्राचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, जिनसेनाचार्य, गुणभद्राचार्य आदि आचार्यों का स्मरण करो। परमेष्ठियों में जिनका स्मरण किया जाता है, उनकी बात है यहाँ। अपनी यशकीर्ति के लिये योग्यता न होकर भी दो चार दस श्रावकों को कहने के लिये तैयार कराकर अपने को आचार्य कहलवाना,

आचार्य लिखकर अपने को प्रसिद्ध कर देना यह उनका प्रकरण नहीं है, किन्तु जो गुणों के निधान हैं उन आचार्य परमेष्ठी का यह वर्णन है। ऐसे आचार्य महाराज जो हमारे परोक्षभूत हैं किन्तु जिन की अन्तरंग मुद्रा का दर्शन अब भी उनके ग्रन्थों के रूप में हो रहा है उन आचार्य गुरु महाराज की भक्ति करो। उनकी असली भक्ति यही है कि वे जो देन दे गये हैं—शास्त्र, उनका स्वाध्याय करें, ज्ञान बढ़ावें। सोचने की बात है कि देखो उन्होंने जीवन भर तपस्या की, हम आपको तैयार किया हुआ अमृत-मय भोजन दे गये और हम ऐसे प्रमादी कुपूत बनें कि उस बने बनाये भोजन को भी न लेना चाहें तो इससे अधिक शर्म और विषाद की बात क्या हो सकती है। हमें उनके ग्रन्थों का पठन करके अपने आचरण को निर्मल बनाना चाहिये, उनकी वंदना करना चाहिये और निम्नलिखित भावना भाना चाहिये :—

गुर्रौभक्ति र्गुरौभक्ति र्गुरौभक्तिः सदास्तु मे।
चारित्रमेव संसार वारणं मोक्ष कारणं॥

वहुश्रुत भक्ति

तीर्थंकर प्रकृति के वंध की कारण भूत यह वहुश्रुत भक्ति नाम की १२ वीं भावना है। अंग पूर्वादिक के ज्ञाता- चारों अनुयोगों (प्रथमानुयोगादि) के पारगामी, स्वयं परमागम का पाठ करने वाले तथा दूसरे शिष्यों को पढ़ाने वाले मुनिराज वहुश्रुती कहलाते हैं, ऐसे वहुश्रुतधारी साधुओं की भक्ति करना सो वहुश्रुत भक्ति है। जो साधु वहुत जैन शास्त्रों के ज्ञाता हों, वे आचार्य द्वारा संघ में पठन–पाठन के लिये नियुक्त कर दिये जाते हैं उन्हें उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। श्रुत माने शास्त्र और वहु माने विशाल, तो विशाल शास्त्र ज्ञानी साधुओं का नाम है वहुश्रुती साधु। ज्ञानी पुरुष ऐसे वहुश्रुत धारी साधुओं की भक्ति करता है। श्रुत ज्ञान इनका दिव्य नेत्र होता है। प्रवचनसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने "आगमचक्षु: साधु" ऐसा कहा है यानि साधु के आगम ही चक्षु होता है। मोही जन तो चर्मचक्षुओं से अपनी समस्त गतियों का निर्णय करते हैं किन्तु साधु जन आगमचक्षु से अपनी समस्त गतियों का निर्णय करते हैं। जिनका श्रुत ही दिव्य नेत्र है, ऐसे वहुश्रुत साधुओं की, गुरुओं की भक्ति करने को वहुश्रुत भक्ति कहते हैं।

आगम अथवा श्रुत तो अगाध है। ११ अंग, १४ पूर्व के ज्ञाता उपाध्याय होते हैं उनके ये ही २५ गुण शास्त्रों में उपाध्याय के कहे हैं। द्वादशांग के नाम आचारांङ्ग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समव्यांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञातृ धर्म कथांङ्ग, उपाध्यानांग, अन्तकृतदशांग, अनुतरोपपादक दशांग, प्रश्न व्याकरणांग, विपाक सूत्रांग और दृष्टिवाद हैं। दृष्टिवाद नाम के १२ वें अंग के ५ भेद हैं–परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका। परिकर्म के ५ भेद हैं–चंद्र प्रज्ञप्ति, सूयप्रज्ञप्ति, जम्बूदीप प्रज्ञप्ति, द्वीप सागर प्रज्ञप्ति और व्याख्या प्रज्ञप्ति। सूत्र और प्रथमानुयोग एक–एक ही हैं इनके कोई भेद नहीं हैं। पूर्व के १४ भेद हैं–उत्पादपूर्व, अग्रायणी पूर्व, अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व, प्रज्ञान वाद, सत्य प्रवाद, आत्म प्रवाद, कर्म प्रवाद, प्रत्याख्यान

पूर्व, विद्यानुवाद, कल्याणानुवाद, प्राण प्रवाद, क्रिया विशाल, त्रैलोक्य बिन्दुसार।

चूलिका के ५ भेद हैं--जलगता, स्थल गता, मायागता, आकाश गता और रूप गता।

इतना महान उक्त अंग पूर्वादिक का ज्ञान छद्मस्थ अवस्था में भी हो सकता है, परन्तु आज इतने श्रुत के धारी कोई नहीं हैं, इस श्रुत ज्ञान के करोड़वें हिस्से वाले ज्ञानी भी आज नहीं रहे। और न वह द्रव्य श्रुत शास्त्र ही रहे। घोर धार्मिक संकट के समय आक्रमणकारियों ने शास्त्रों को जलाया। बड़ी-बड़ी सेनाओं से कहा गया कि जहां इनके शास्त्र मिलें उन सबको जलाओ, पानी गरम करो और नहावो। ऐसे बड़े संकटों के समय से भी जो साहित्य बचा है, वह जैन साहित्य भी हमारे समक्ष आज इतना है कि जिसकी तुलना कहीं नहीं की जा सकती। तो अब समझ लीजिये कि जो समस्त द्वादशांग का वेत्ता हो अथवा कुछ कम भी हो ऐसे जो बहुश्रुत विद्वान हैं उनकी भक्ति को श्रावक जन कैसे तरसते होंगे। कैसी-२ उत्सुकता और भक्ति उनकी उमड़ती होगी। सर्वस्व समर्पण का भाव रहता होगा उनका, उन बहुश्रुत धारियों के प्रति।

अंग पूर्वादिक समस्त श्रुत का जो इतना महान ज्ञान है, यह तपस्या के प्रभाव से ही उत्पन्न होता है। जिन योगियों की तपस्या विशुद्ध होती है, उनकी आन्तरिक तपस्या का फल यह है कि उनकी आत्मा ऐसे दिव्य श्रुत ज्ञान से अलंकृत हो जाती है, वे श्रुतकेवली संज्ञा से विभूषित हो जाते हैं। कोई चाहे कि कोई शिक्षा लेकर शास्त्रों को पढ-रट कर, अध्ययन कर के इतने विशाल श्रुत का ज्ञान हो जावे सो नहीं होता, यह तो अतरंग आत्मशक्ति का प्रस्फुटन है, जो विशुद्ध ज्ञानी तपस्वी को प्रगट होता है। आज इतने बहुश्रुती साधु तो हमारे सामने नहीं हैं किन्तु जो बहुश्रुती उपलब्ध हैं, उनकी भक्ति का परिणाम जगना सो भी बहुश्रुत भक्ति है। और भी श्रुतानुराग के अन्य-अन्य कार्य करके हमें बहुश्रुत भक्ति करना चाहिये। स्वयं बहुत

अनुराग से शास्त्रों को पढ़ें और दूसरों को पढ़ावें। धन को साहित्य प्रकाशन में लगावें, रिसर्च करें, शास्त्रों में हीनाधिक अक्षर हों तो उनका संशोधन करें। शास्त्रों का व्याख्यान करवायें, पढ़ाने वाले जो विद्वान जन हैं उनकी आजीविकादि की स्थिरता करके इस ज्ञान-धारा के प्रवाह में सहयोग देवें। स्वाध्याय भवनों का निर्माण करवाना, पुस्तकालय—वाचनालयों को खुलवाना आदि सब कार्य बहुश्रुत भक्ति के ही अंग हैं।

आज के समय में आवश्यकता इसी बात की है कि, हम धार्मिक शिक्षा के संस्कारों को बच्चों में डालने के लिये पाठशालाओं का निर्माण करें, उनमें धार्मिक शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध करें। धार्मिक विद्यालयों से ही अच्छे विद्वान निकल सकते हैं जो स्व-पर कल्याण में रत रह कर, धर्म प्रभावना का अपूर्व कार्य करके श्रुत का प्रचार-प्रसार करेंगे। बड़े वर्णी जी कहा करते थे कि २०-३० छात्रों में, खर्च विद्यालय का ज्यादा भी हो तो, भी उसमें ऐसा सोचना योग्य नहीं। विद्यालयों में खर्च का हिसाब नहीं लगाना चाहिये। धार्मिक विद्यालय खुलवाना, यह आज के समय का पुनीत कार्य है। मन्दिरों, पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं की आवश्यकता आज नहीं रही, उनमें पैसा न लगाकर गुरुकुल खोलना, शिक्षण शिविर लगवाना यह काम आवश्यक हैं। इसी प्रकार शास्त्रों के प्रचार में, साहित्य लिखाने में, प्रसार करने में महा लाभ होता है, इसी ओर अपना तन-मन-धन वचन लगाकर बहुश्रुत भक्ति करना चाहिये। श्रुत भक्ति में स्वर्ण रत्नों का समर्पित करना, शास्त्रों के वेठन, वस्त्र समर्पण करना, उनकी सम्हाल करना सो समस्त बहुश्रुत भक्ति है। श्रुतानुराग में सर्वस्व समर्पण करने का भाव ज्ञानी के रहा करता है। और परमार्थतः वह भक्त अपने आत्मिक गुणों से ही तो अनुराग कर रहा है, उसे उस गुणों से प्रीति है अतः गुणवान में भी भक्ति उसके होती ही है। बहुश्रुती साधु अपना तथा पर का हित करने में सदैव तत्पर रहते हैं। उनके हृदय में जीवों के प्रति आनन्द

सतमार्ग के उपाय से उनके दुःख दूर करने की भावना रहती है। ये अपने जिन सिद्धान्त तथा अन्य एकान्त वादियों के सिद्धान्तों को विस्तारपूर्वक जानते हैं, ऐसे स्याद्‌वाद रूप परम विद्या के धारक गुरुओं की भक्ति बहुश्रुत भक्ति कहलाती है। बहुश्रुत वन्त ज्ञानी पुरुषों के गुणों का स्मरण करने से परम श्रुत का विकास होता है, हमारे हृदय में कषाय की मन्दता आकर परिणाम निर्मल बनते हैं। श्रुतधारी महापुरुषों की भक्ति से ज्ञानावरण कर्म का नाश होकर, केवल ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

वास्तव में आगम कला के जानकार पुरुष धर्मक्षेत्र के मोती या जवाहरात हैं, वे समाज-गगन के चमकते हुये ग्रह और नक्षत्र हैं। हमें बहुश्रुतियों से ही प्रकाश मिलता है। इनका सत्संग हमारे लिये जीवित पाठशाला है। जीवन की सफलता के तत्व निर्भीकता, निष्काम और निःस्प्रह होना निःकांक्षी होना, सतत् काम में लगे रहना, प्रसन्न रहना मस्त रहना आदि बातें हम इन्हीं की भक्ति, से प्राप्त कर सकते हैं। बहुश्रुतधारी तो निरन्तर अपने काम में मस्त रहते हैं, वे जो कुछ करते हैं वह अपने को प्रसन्न करने के लिये करते हैं। 'स्वान्तःसुखाय' वाली बात उन्हीं पर लागू होती है। हमें सच्चा जीवन जीने की कला इन्हीं की भक्ति द्वारा सीखना चाहिए। सब जीव ज्ञानमय हैं। अतः बहुश्रुत-धारी सन्तों की सेवा भक्ति में रहकर अपने अज्ञान अंधेरे को हटाकर अन्तरंग में ज्ञानदीप जलाना चाहिये। और आत्मा को जानना हमारा पहला कर्तव्य है, ऐसी वृत्ति जीवन में जगाकर मोक्षमार्गोपयोगी कार्य करना चाहिये।

जैन श्रुत का उद्‌गम लोक कल्याण की पवित्र भावनाओं को लेकर हुआ। मानव के भीतर गुप्त रुप से छिपी हुई महान शक्ति को ध्वनित करने और उसके विकास को चरमसीमा तक पहुंचा देने के महान आदर्श उसके अंतस्तल में निहित हैं, अतः द्रव्य और भाव पूजन करके बहुश्रुत भक्ति करो। बारबार श्रुत देवता का स्मरण करके

अपनी मनुष्य पर्याय को सफल करना सीखो।

जो ज्ञानी पुरुष वहुश्रुत भक्ति से सम्पन्न होते हैं वे जिन श्रुत की और वहुश्रुत ज्ञान के धारियों की भक्ति करके, चिन्तन करके अन्तरंग मे अपने आत्मा को धवल करते हैं, प्रसन्नता प्राप्त करते हैं तथा इन वहुश्रुत भक्ति करने वाले पुरुष के, संसार के पुरुषों पर जव परमकरुणा का भाव जगता है तो वे सोचते हैं ओह ! वहुश्रुत में जिस निज अतस्तत्व का वर्णन किया है, ऐसे इस अंतस्तत्व का परिचय पाये विना ये इतने घोर संकट में पड़े हुए हैं, इस सत्य करुणा के प्रताप से उसे तीर्थकर प्रकृति का वंध होता है।
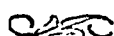
शास्त्रों के माध्यम से हम हजारों वर्ष पुराने आचार्यों के सीधे सम्पर्क में आते हैं। हमें उनके अनुभव का लाभ मिलता है। लोकालोक का प्रत्यक्ष ज्ञान तो हमें परमात्मा बनने पर ही प्राप्त हो सकेगा, किन्तु परोक्ष रूप से वह हमें जिनवाणी द्वारा प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञ भगवान के इस क्षेत्र-काल में अभाव होने एवं आत्म ज्ञानियों की विरलता होने से एक जिनवाणी की ही शरण है।

प्रवचन भक्ति

सोलह कारण भावनाओं में १२ वीं बहुश्रुत भक्ति भावना के बाद अब १३वीं भावना की बात कही जावेगी, उस भावना का नाम है प्रवचन भक्ति। सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी आप्त की जो वाणी है या उस परम्परा से चला आया हुआ जो आगम है, उसको प्रवचन कहते हैं, ऐसे प्रवचन परमागम में भक्ति होना सो प्रवचन भक्ति है। अथवा सम्यग्ज्ञान की आराधना करना सो प्रवचन भक्ति है। सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रतिपादित वाणी ही प्रमाण भूत और सत्य है। ऐसी वाणी जिसमें रंचमात्र भी दोष न हो, यदि उसकी आराधना हम करेंगे तभी हमारा कल्याण हो सकेगा। ऐसी निर्दोष और हितकारी वाणी केवल वीतराग वाणी ही है ऐसी वाणी जिन-जिन शास्त्रों में लिखी गई, वे सब शास्त्र पूजनीय और पढ़ने योग्य हैं। यह जीव आगम में कहे हुये वस्तु के यथार्थ स्वरूप को सुनकर, पढ़कर उसका चिन्तवन करके ही सर्व संकटों से मुक्त होने का उपाय पा सकता है। कष्टों से मुक्त होने का मूल उपाय आगम ज्ञान ही है क्योंकि आगम से पदार्थों के स्वरूप का निश्चय होता है। पदार्थ निश्चय से पदार्थों में जो इष्टानिष्ट कल्पनायें जगतीं हैं, उनकी समाप्ति हो जाती है। आखिर संकट जीव पर मोह भाव का ही तो है, अज्ञानता का ही तो है। मोह और अज्ञानता से ही आकुलता होती है और आकुलता का नाम ही दुःख है, तो आकुलता को मिटाने का साधन परमागम का अध्ययन करके शुद्ध ज्ञान जगाना ही है। तभी तो अपन पढ़ते हैं–"श्री जिन की धुनिदीपशिखा सम, जो नहि होत प्रकाशनहारी। तो किस भाँति पदारथ पाँति, कहाँ लहते रहते अविचारी"॥ अर्थात श्री वीर भगवान से विनर्गत यह देशना की परम्परा न चली होती, ये शास्त्र परमागम यदि न होते तो हम कहाँ सन्मार्ग पाते। जिनेन्द्र भगवान की वाणी के समान और कोई प्रकाश नहीं है जो पदार्थों को प्रकाशित करे। पदार्थों का स्वरुप यदि हमें विदित न हो तो हम अविवेकी ही बने रहते। बाह्य पदार्थों के संयोग वियोग से जीव सुखी दुःखी नहीं किन्तु निःसंकट

ज्ञानानन्द स्वरूप का बोध न होने से ही सर्व संकट हैं,जहाँ अपने स्वरूप की ऐसी दृष्टि की कि मैं तो अकिन्चन हूँ, सबसे न्यारा हूँ, केवल ज्ञानानन्द स्वरुप हूं, मेरा मैं ही हूं, मेरे प्रदेश से बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है तो वहाँ संकट रह ही नहीं सकते। तो यह सब ज्ञान प्राप्त होता हैं आगम से, प्रवचन से। अतः प्रवचन भक्ति करना अपने आत्महित के लिए अति आवश्यक है।

भगवान की वाणी किसी संकुचित दायरे में रहने वाली नहीं हैं इस वाणी के द्वार बिना किसी भेद भाव के सभी प्राणियों के लिये खुले हैं। भगवान के परमागम में जितने प्रकार के, जिस भी अनुयोग में जहाँ जो कुछ वर्णन है वह सब यथार्थ है और अपनी-२ कथन पद्धति से ज्ञान और वैराग्य को पोषण करने वाला है। प्रथमानुयोग को पढ़ें तो वहाँ भी हित प्रकाश मिलता है। कुलकर, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव प्रतिवासुदेव आदि ६३ शलाका पुरुषों की उत्पत्ति, प्रवृत्ति, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन, उनका विभव, परिवार, ऐश्वर्यादिक आगम से ही जानते हैं। उनके वैराग्य का चरित्र आता है तो उसको सुनकर हमें भी ज्ञान वैराग्य की प्रेरणा मिलती है। पुण्य पाप का बोध होता है और संसार की विचित्रिता भी ज्ञात होती है।

करणानुयोग के ग्रन्थों को पढ़ें तो उसमें भी भिन्न-२ प्रकार से हितस्वरुप का वर्णन किया है। तीन लोक का परिचय होता है उनके पढ़ने से। अधोलोक में सात पृथ्वियाँ, उनमे नारकियों की उत्पत्ति, उनके रहने की स्थिति, काय, वेदना आदि का परिचय होता है। अपने पापभावों द्वारा उपार्जित उन नारकियों के दुःख का वर्णन पढ़ने से पापभावों से भयभीतता होती है तथा भवनवासी व्यन्तर देवों के ७ करोड़ ७२ लाख भवनों का, उनके विभाव, विक्रिया, भोगादिक का वर्णन भी अधोलोक में है। मध्य लोक में असंख्यात दीप समुद्रों का, कर्म भूमि के विदेहादिक क्षेत्रों का, भोगभूमि का, तिर्यन्चों के निवास का तथा ज्योतिषी देवों का परिचय होता है जिस प्रकार की स्थिति जीव अपने उपार्जित कर्मानुसार इस संसार के विभिन्न स्थानों में भोगता है,

यह बात विदित होती है। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देवों का और इन्द्रादिक देवों का परिचय होता है इतना ही नहीं, कर्मप्रकृतियों का बंध, उदय, सत्व और क्षय आदि का बारीक वर्णन पढ़ने से उपयोग विषय कषाय से रक्षित होता है और श्रद्धा दृढ़ होती है, ज्ञान व चारित्र बढ़ता है तथा आचार्यों के प्रति बहुमान जगता है कि कैसे ज्ञान के समुद्र थे वे।

चरणानुयोग की शैली में भी विशिष्ट शुद्ध आनन्द जगता है। जैन सिद्धान्त में चारित्र का जो क्रमिक वर्णन है, सम्यक्त्व से लेकर महाव्रत पर्यन्त तक, एकादश प्रतिमायें, फिर मुनि के २८ मूल गुणों का और आगे फिर अभेद रूप निश्चय परम ध्यान का जो बाह्य और अन्तरंग आचरण का वर्णन है, उसको पढ़कर कितने ही मनुष्य इस सिद्धान्त के श्रद्धालु हो जाते हैं।

द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों को देखें तो उसमें दो विभाग हैं एक न्यायशास्त्रों का और दूसरा अध्यात्मशास्त्रों का। न्याय के ग्रन्थों में तर्क, युक्ति, प्रमाणनय, निक्षेप आदि साधनों द्वारा जो वस्तुस्वरूप की सिद्धि की गई है, वह विलक्षण है, तथा अध्यात्म ग्रन्थों में आत्मद्रव्य के गुण पर्यायों का, षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, ७ तत्व, ९ पदार्थ आदि का बड़ा वैज्ञानिक वर्णन किया गया है। यह जीव उन तत्वों को समझकर बाह्यवृत्तियों से निवृत्त होकर, क्रमशः अन्तरंग में सहज शुद्ध स्वभाव में प्रवेश करता है। अध्यात्म और न्याय दोनों में एक दूसरे की छटा देखते हुये जो अपनी साधना करता है ऐसा जीव विलक्षण शान्ति का पात्र बन जाता है। तो इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के प्रवचन को योग्य काल में बड़ी विनय के साथ पढ़ना सो प्रवचन भक्ति है।

सम्यग्ज्ञान ही जीव का परमबान्धव है, उत्कृष्ट धन है, परममित्र है, सम्यग्ज्ञान स्वाधीन अविनाशी धन है। ज्ञान ही परम देवता है। ज्ञान के अभ्यास बिना व्यवहार और परमार्थ दोनों ही नहीं सधते, अतः हम आप सबका कर्त्तव्य है कि शास्त्रों का श्रवण कर, पठन–पाठन कर

कुछ लाभ उठावें। भ्रम, मिथ्यात्व, अज्ञान भाव को समाप्त करें। लौकिक अज्ञानी जीव विरुद्ध आचरण करने में अपनी चतुराई समझते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि आत्मा की शुद्धि का साधन धर्म ही है और वह सम्यक् ज्ञान से ही संभव है। जो ज्ञान अहित को हटा दे वही तो सम्यक्ज्ञान है और जो ज्ञान अहित को इकट्ठा करदे वह मिथ्या ज्ञान है। यह मिथ्या ज्ञान आत्मा में उसी तरह लिपटा हुआ है जैसे दूध के साथ पानी। आगमज्ञान ही इस जीव का उद्धारक है अतः आगम के अध्ययन में अपना अधिकाधिक समय देना सो प्रवचन भक्ति है। जिसने आगम का ज्ञान नहीं किया वह मदिरापायी की तरह बाह्य पदार्थों में डोलता रहता है। शरीरादिक परपदार्थ और रागद्वेष रुप परभाव इनको अपना मानता हुआ स्वपर विवेक से रहित हो, संसार में ही घूमता है। और जो स्व-पर तत्व का निश्चायक ऐसे आगमोपदेश का अध्ययन करता है वह स्वानुभव प्राप्त करके आत्म प्रगति करता है।

भैया ! सारे लौकिक कार्य असार और दुःखद हैं। आखिर सोचो जो रागद्वेष की वृत्ति में लगाये, वह साधन तो मेरा वैरी ही है। आत्म कल्याण का मार्ग इन बाहरी समागमों,परिचयों में सूझ ही नहीं सकता। आगम में व्यापार करना ही एक आलौकिक प्रकाश है, जिस प्रकाश में स्वरक्षा रह सकती है और कष्ट मिट सकते हैं।

यह परमागम मूल में सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि से विकसित हुआ। इस समय अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का तीर्थ चल रहा है। चतुर्थकाल के ३ वर्ष ८॥ माह बाकी रहने पर महावीर स्वामी निर्वाण पधार गये। उनको दिव्यध्वनि के परम उपासक गौतम गणधर ने श्रुतज्ञान के बल से उस दिव्यध्वनि को झेला और द्वादशांग रुप रचना की और ज्ञानियों को प्रगट किया। महावीर स्वामी को निर्वाण गये पीछे गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य और जम्बू स्वामी इन तीन केवलियों ने ६२ वर्ष तक केवल ज्ञान द्वारा समस्त व्याख्यान किया। पश्चात् केवल ज्ञानियों का अभाव होने परन्तु अक्रम

रो विष्णु नंदि मित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये ५ मुनि, १२ अंग के धारक श्रुत केवली हुये। पश्चात् कालानुसार अंग ज्ञान कम होता गया, अंत में १ अंग के धारक मुनि ही रह गये। फिर कुन्दकुन्दाचार्य मुनि हुये जिन्होंने समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्दी स्वामी, समंतभद्र आदि समर्थ आचार्यों ने न्याय के ग्रन्थ लिखे। करणानुयोग में गोम्मट्ट सार, लब्धिसार क्षपणासार, त्रिलोकसार चरणानुयोग में मूलाचार, रत्नकरंड श्रावकचार आत्मानुशासन आदि तथा प्रथमानुयोग में महापुराण आदि अनेक ग्रन्थ हैं। इन सभी आचार्यों की कृतियों का, ग्रन्थों का पठन पाठन करना, श्रवण करना, व्याख्यान करना, लिखना, लिखवाना, शोधना सो सब प्रवचन भक्ति है। प्रवचन में आज यद्यपि अंग और पूर्वों के रुप में ज्ञान नहीं हैं फिर भी उनके भाव के अनुकूल जो कुछ ग्रन्थ रचे हैं वह आज अपना प्रकाश दिये जा रहे हैं, उन शास्त्रों की प्रीति पूर्वक सेवा करना,उपासना करना, उनके भाव को अपने हृदय में धारण करना सो प्रवचन भक्ति है।

प्रवचन भक्ति कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक है हम आप सबका कर्तव्य है कि स्वाध्याय की रूचि बनावें। स्वाध्याय विना पाप नहीं छूट सकता। कषायों की मन्दता नहीं हो सकती। शास्त्रों के भाव को अपने हृदय में धारण किये विना संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्रों के मर्म को जानकर परमार्थतत्व का विचार भली प्रकार किया जा सकता है। ऐसे आगम की उपासना स्वयं करना और दूसरों को उसकी प्रेरणा देना सो सब प्रवचन भक्ति है।

इस आगम ज्ञान को देने वाले जो गुरुजन हैं, वे अपने महोपकारी हैं। उन समान और कोई अपना उपकार करने वाला नहीं, अतःज्ञानीदाता गुरु के उपकार का लोप कभी भी नहीं करना चाहिये। जिसने अपने को सम्यग्ज्ञान दिया उसने महासम्पदा दी, क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही जीव का अविनाशी धन है जो स्वदेश में, परदेश में, सुख की स्थिति में, दुःख की

स्थिति में परम शरणभूत होता है अतः अपनी आत्मा को भी ज्ञानदान, नित्य स्वाध्याय करके देना चाहिये और अन्य शिष्यों को भी ज्ञानदान करना चाहिये। प्रवचन के सेवन विना मनुष्य पशु समान हैं। प्रवचन-भक्ति हजारों दोषों का नाश करने वाली है अतः जिनवाणी की सुरक्षा तथा प्रकाशन की व्यवस्था करना, प्रकाशित ग्रन्थों को खरीदना, अपने घर में अन्य वस्तुओं की तरह कम से कम २०-२५ ग्रन्थ रखना, मन्दिरों में शास्त्र सभायें करना, जिनवाणी के प्रचार-प्रसार की सुन्दर योजनायें वनाना, ग्रन्थों का जीर्णोद्धार कराना, विद्यालय खुलवाकर धार्मिक शिक्षा के साधन वनाना सो सव प्रवचन भक्ति ही है। यह प्रवचन-भक्ति परमकल्याण रुप है, अतः उपन्यास आदि के पढ़ने में व्यर्थ समय न खोकर अपने चित्त को शास्त्र की भक्ति में लगाओ। लाखों करोड़ों ग्रन्थों का सार यही है कि यदि तुम सुख चाहते हो तो आत्मानु-भव करो और आत्मानुभव करने का साधन प्रवचन या परमागम का अध्ययन ही है। स्वाध्याय के द्वारा ही वीतराग वाणी का ज्ञान हमें मिल सकता है। जो जिनवाणी का पठन पाठन करते हैं वे अपना परम कल्याण करते हैं। ऐसा जानकर निम्नलिखित भावना करो—

श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदास्तु मे ।
सद् ज्ञान मेव संसार वारणं मोक्ष कारणं ॥
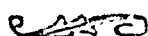
आवश्यकापरिहाणि

प्रवचन भक्ति के बाद अब १४वीं आवश्यकापरिहाणि नाम की भावना की चर्चा हो रही है। आवश्यक कहते हैं अवश्य करने योग्य कामों को और अपरिहाणि का अर्थ है उनमें कमी न करना, उनमें हानि न करना, उन्हे छोड़ न देना। अर्थात् मोक्ष मार्ग में बढ़ने के लिये, शान्ति के स्थान में पहुंचने के लिये जो कर्त्तव्य हैं, आवश्यक कार्य हैं, उनमें कमी न करना, उन आवश्यक कार्यों को करते रहना ऐसी भावना का आना सो आवश्यक अपरिहाणि भावना है अथवा दूसरी व्याख्या यह भी है आवश्यकापरिहाणि की कि जो अवश पुरुष हैं यानि जो महा पुरुष इन्द्रिय विषय भोगों के आधीन नहीं, किसी पर के आधीन नहीं, किन्तु अपने निज अंतस्वरूप का अभ्यासक हो वे अवश पुरुष हैं,ऐसे इन्द्रिय विषयों की आधीनता से रहित पुरुष, मुनिराज ही तो हैं तो उन अवश पुरुषों की जो क्रिया है उसे आवश्यक कहते हैं उन आवश्यक क्रियाओं की हानि नहीं करना सो आवश्यकापरिहाणि है। मुनिराजों के ६ आवश्यक कर्त्तव्य हैं जो उन्हें जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो, अवश्य ही प्रतिदिन करते रहना चाहिये, उनमें शिथिलता नहीं आने देना चाहिये। वे ६ आवश्यक हैं समता, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग। जब मुनि विशुद्ध ध्यान, निर्विकल्प ध्यान में नहीं रह पाते तो इन ६ आवश्यक कार्यों को करते हैं।

१-समता अथवा सामायिक :—अपने परिणामों में समता बनाये रखने का नाम सामायिक है। साम्यभाव के धारक पुरुष बाह्य पुद्गलों को अचेतन, अपने से भिन्न और अपने आत्म स्वभाव में हानि वृद्धि के अकर्ता जान कर, रागद्वेष छोड़ते हैं। सुन्दर असुन्दर वस्तु में तथा शुभ अशुभ कर्म के उदय में राग द्वेष नहीं करना तथा आहार, वसतिकादि के लाभ अलाभ में, स्तुति

निंदा में, आदर अनादर में, पाषाण रत्न में, जीवन मरण में, वैरी–मित्र में, सुख:दुख में, महल और श्मशान में रागद्वेष रहित परिणाम होना सो समभाव है। ज्ञानी का उद्देश्य हर स्थिति में ज्ञाता दृष्टा रहने का है, अतः ज्ञानी विरक्त संत अपने इस लक्ष्य से कभी विचलित नहीं होता। ऐसे साम्यभाव की भावना बनाये रखने वाले पुरुष के सामायिक नामक आवश्यक कार्य की अपरिहाणि भावना है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सामायिक के ६ प्रकार हैं:—शुभ–अशुभ नाम को सुनकर राग द्वेष नहीं करना सो नाम सामायिक है। कोई स्थापना में प्रमाण आकार, आदि सुन्दर हैं और कोई हीनाधिक प्रमाणादि होने से असुन्दर हैं, उनमें राग–द्वेष का अभाव सो स्थापना सामायिक है। सुवर्ण, चाँदी, मोती, रत्न आदि में तथा मिट्टी, पाषाण काठ, भस्म धूल आदि को रागद्वेष रहित सम देखना सो द्रव्य सामायिक है। महल उपवनादि रमणीक और श्मशानादिक अरमणीक क्षेत्र में राग द्वेप छोड़ना सो क्षेत्र सामायिक है। शीत, ग्रीष्म, वर्षा ऋतु में और रात्रि दिवस, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष आदि कालों में रागद्वेष का वर्जन सो काल समायिक है। तथा अशुभ परिणामों का अभाव करना, मैत्री, प्रमोद आदि भाव रखना सो भाव सामायिक है।

२-स्तवन:—२४ तीर्थंकरों का समुदाय रूप से, उनका प्रथक-प्रथक नाम न लेकर स्मरण करना तो स्तवन नाम का आवश्यक है, जिनेन्द्र भगवान की अनेक नामों से स्तुति करना सो स्तवन है। देखो स्तुति तो सभी जीव करते हैं, मोही जीव अपने स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्बी जनों की बड़ाई प्रशंसा में समय व्यतीत करते हैं, स्त्री पति की प्रशंसा करती, पुत्र पिता की बड़ाई करता, परन्तु परस्पर में ये सब बड़ाई करना संसार मार्ग को बढ़ाना है क्योंकि जगत की इन प्रशंसाओं में, अन्तर में मोह पाप छिपा हुआ है अन्यथा उससे भी अधिक

रूपवान, बलवान सज्जन पुरुष पड़े हुये हैं उनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता तो यह सब तो मोह का नाच है और फिर सराग, मायामयी विषयों के साधन भूत जीवों का स्तवन करने से पाप बढ़ते हैं, लाभ कुछ नहीं होता।

इसलिये ज्ञानी संत जिसे मुक्ति प्रिय है, स्वभाव दृष्टि ही जिसका सर्वस्व है, वह स्तवन करेगा तो जिसने स्वभाव दृष्टि करके परमधाम प्राप्त किया है, जीवन्मुक्त अरहंत दशा प्राप्त की है उसका स्तवन करेगा। वह तीर्थंकरदेव, अरहंत प्रभु का स्तवन अनेक नामों से करता है जैसे कर्म रूप वैरी को जीतने से 'जिन', अपने स्वरूप में स्वयं ही तिष्ठे होने से 'स्वयंभू' केवलज्ञान रूप नेत्र से त्रिकालवर्ती पदार्थों के ज्ञाता होने से 'त्रिलोचन', तथा आपने मोह रूप अन्धसुर को मारा इसलिये 'अंधकांतक' हो। घातियाकर्म रूप अर्धवैरियों का नाश कर आपने अद्वितीय ईश्वरपना पाया इसलिये 'अर्धनारीश्वर', शिवपद अर्थात् निर्वाणपद में बसे होने से 'शिव' तथा आपने पाप रूप वैरी का संहार किया इसलिये 'हर', लोक में सुख के कर्ता होने से 'शंकर', और सजो परम आनन्द रूप सुख उस में उत्पन्न होने से 'शंभव' या 'शंभू, हो। और वृष जो धर्म उससे देदीप्यमान हो अतः 'वृषभ', जगत के समस्त प्राणियों में गुणों से बड़े अतः 'जगज्जेष्ठ', क माने सुख उससे समस्त जीवों की पालना करने से 'कपाली', केवलज्ञान से समस्त लोकालोक में व्यापक होने से 'विष्णु' तथा जन्म मरण रूप त्रिपुर को अंत करने वाले होने से 'त्रिपुरांतक' हो। इस प्रकार १००८ नामों से आपका स्तवन इन्द्र ने किया है। वैसे तो गुणों की अपेक्षा आपके अनंत नाम हैं, इस प्रकार अपने भावों में अरहंत भगवंतों का चितंवन कर स्तुति करने से पाप कटते हैं और सन्मार्ग की प्राप्ति होती है। तो ज्ञानी पुरुष का यह भी एक आवश्यक कर्तव्य है कि वह चतुर्विंशति तीर्थंकरों का स्तवन किया करे।

यह स्तवन आवश्यक भी ६ प्रकार का है। २४ तीर्थंकरों का अर्थ सहित १००८ नाम से स्तवन करना सो नाम स्तवन है, और कृत्रिम अकृत्रिम तीर्थंकर अरहंतों के प्रतिविम्बों का स्तवन सो स्थापना स्तवन है। तथा समोशरण स्थित देह प्रभा प्रातिहार्यादिक को लेकर स्तवन करना सो द्रव्य स्तवन है तथा संम्मेदशिखर आदि निर्वाण क्षेत्र और समोवशरण में धर्मोपदेशक क्षेत्र का स्तवन सो क्षेत्र स्तवन है। तथा पंचकल्याणक के काल का स्तवन सो काल स्तवन है और केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय भाव का स्तवन सो भाव स्तवन है इस प्रकार नाम स्थापना आदि को लेकर स्तवन ६ प्रकार से किया जाता है।

३-वन्दना:—

२४ तीर्थंकरों की सम्मलित रुप से स्तुति न कर, एक-२ विशिष्ट उपास्य देवों का नाम लेकर, उनके चरित्र और गुणों पर दृष्टि देकर स्तवन करना, वंदना करना, प्रणाम करना सो वन्दना आवश्यक है। या अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधुओं में एक-२ को लेकर स्तुति करना सो वन्दना आवश्यक है। इसके भी ६ प्रकार हैं। तीर्थंकरों व पंच परमेष्ठी में एक-एक का नाम उच्चारण करना सो नाम वंदना है, इन के एक-२ प्रतिविम्बादिक की वंदना सो स्थापना वंदना है, उनके सशरीर रुप की वन्दना करना सो द्रव्य वंदना है, अरहंत आचार्यादिकों के एक-एक के आवास क्षेत्रों की वन्दना करना सो क्षेत्र वंदना है तथा एक-२ के जन्म दीक्षा आदि तिथियों में विशेष स्मरण सहित वंदना करना सो काल वंदना है और उनके एक-२ के आत्म गुणों को याद कर वंदना करना सो भाव वंदना है। ये ६-प्रकार का वंदना आवश्यक है।

४-प्रतिक्रमण:—

यह जीव अनादिकाल से दोषों से लिप्त चला आ रहा है, और फिर इस पंचमकाल में तो विषय कषाय रुप पाप भावों की प्रचुरता और तीव्रता होने के कारण अनेक प्रकार के दोष बन जाते हैं उनके दोषों पर विषाद करें पछतावा करें और उन दोषों की शुद्धि के लिये

विवेक जागृत करें तभी मोक्षमार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है। तो दोषों की शुद्धि करना सो प्रतिक्रमण नाम का चौथा आवश्यक है। आत्मा की साधना में प्रतिक्रमण का बड़ा महत्व है। प्रतिक्रमण के ६ भेद बताये हैं, दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ।

दैवसिक प्रतिक्रमण

समस्त दिन में प्रमाद के वश होकर विषय कषाय के कोई भाव जगे हों, किसी ऐकेन्द्रियादि जीवों का घात किया हो, सदोषभोजन किया हो, कर्कश, कठोर, मिथ्यावचन कहे हों, किसी की निंदा, अपवाद या अपनी प्रशंसा की हो, विकथायें की हों, पर की स्त्री में राग भाव किया हो, धनपरिग्रहादि में लालसा की हो आदि पापभाव हुये हों तो उन दोषों को शाम के समय चिनवन करना, पछतावा करना, वे दोष अब न लगें ऐसी भावना करना, उन्हें दूर करना सो दैवसिक प्रतिक्रमण है। पूर्वकृत दुर्भाव मिथ्या होवें और भविष्य के परिणामों की शुद्धता वास्ते ६ बार पंच नमस्कार मंत्र का जापकर कायोत्सर्ग करना सो दैवसिक प्रतिक्रमण है।

रात्रिक प्रतिक्रमण :

रात्रि सम्बन्धी प्रवृत्तियों से जो दोष बन जायें, उन दोषों की शुद्धि के लिए प्रातःकाल प्रतिक्रमण करना सो रात्रिक प्रतिक्रमण है। जैसे कोई कुशल व्यापारी दिन भर के व्यापार का नफा टोटा देख लेता है, ऐसे ही मोक्षमार्ग में शुद्ध भावों का व्यवसाय करने वाला यह पुरुष एक बार नहीं किन्तु २४ घंटे में दो बार अपना नफा टोटा देखता है।

ईर्यापथ प्रतिक्रमण :

मार्ग में चलने से जो दोष होते हैं उनका प्रतिक्रमण करना सो ईर्यापथिक प्रतिक्रमण है। चलने के बाद ठहरे अथवा कुछ भी कार्य करे, अन्त में प्रतिक्रमण किया जाता है। आखिर जो दोष लग रहे हैं, उन दोषों को भी दूर करने का उद्यम करना चाहिये।

पाक्षिक प्रतिक्रमण : १५ दिन में लगे हुये दोषों के निराकरणार्थ यत्न करना सो पाक्षिक प्रतिक्रमण है प्रतिक्रमण का अर्थ है कि जो दोष लग गये हैं उन दोषों को ज्ञान वल से दूर करना । वे कैसे दूर हों ? इसके लिये अपने उस स्वच्छ सहज स्वभाव का आदर करने से दोष दूर होते हैं । केवल कहने मात्र से कुछ नहीं होता । जैसे कोई पुरूष,किसी दूसरे पुरुष को मारे,पीछे गाली दे और फिर कहे कि हमने जो कहा हो सो माफ करो, फिर पीट दे और फिर कहे जो कुछ कहा सो माफ करो, इसी प्रकार 'मिच्छा मे दुक्कड़ं' मेरे सर्वपाप मिथ्या हो जायें वाला प्रतिक्रमण का पाठ पढ़ता जाये और दोष करता जाये तो उस का शुद्धिकरण नहीं हैं । तो अपने निर्दोष सहज स्वभाव का अवलोकन करें, मूल को पकड़ें तो परमार्थ प्रतिक्रमण वनता है ।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण :

चार महीने में लगे हुये दोषों का प्रतिक्रमण करने को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कहते हैं ।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण :

पूरे एक वर्ष भर के दोषों के निराकरण के लिये साँवत्सरिक प्रतिक्रमण है ।

उत्तमार्थ :

सारे जीवन भर जो दोष लगते हैं उनका उपसंहार रुप से प्रतिक्रमण करना सो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण हैं ।

उक्त सभी प्रतिक्रमण प्रत्येक साधक नियमित रुप से करता है । दंवसिक आदि सव प्रतिक्रमणों सहित और आचार संयमों सहित अपना जीवन विताते हुये अंत में जव मरणसमय होता है तो सर्व दोषों का परिहार करके सम्पूर्ण प्रतिक्रमण होता है । इस प्रतिक्रमण में स्वभाव दृष्टि के वल से अपने को निर्दोष स्वच्छ ज्ञायक स्वरुप रूप में प्रतीति करने से इसके दोषों की शुद्धि होती है । ये प्रतिक्रमण भी ६ प्रकार के भेद से होता है :—

अयोग्य नाम के उच्चारण से उत्पन्न दोष के दूर करने के लिये प्रतिक्रमण करना सो नाम प्रतिक्रमण है। किसी शुभ स्थापना के कारण से मन वचन काय से उत्पन्न दोष से अपने आत्मा को निवृत्त करना सो स्थापना प्रतिक्रमण है। आहार, औषधि, पुस्तकादि के निमित्त से उत्पन्न दोष का निराकरण करना सो द्रव्य प्रतिक्रमण है। क्षेत्र में गमन, स्थानादिक के कारण से उत्पन्न दोष के निराकरण को क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं। शीत ग्रीष्मवर्षा काल, रात्रि दिवस पक्ष आदि काल के निमित्त से उत्पन्न अतीचार के दूर करने को काल प्रतिक्रमण कहते हैं। और राग द्वेष भावों से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिये जो प्रतिक्रमण करना सो भाव प्रतिक्रमण है। इस प्रकार ६ रुप से साधु, दोषों को दूर करने के लिये हमेशा ही ७ प्रकार के प्रतिक्रमण करता है, इस प्रकार यह प्रतिक्रमण आवश्यकापरिहाणि है।

५—स्वाध्याय :

अपने आत्मतत्व का मनन करना सो स्वाध्याय है। जो कुछ पढ़ें, ज्ञान सीखें उसमें अपने दिल को खुश कर लेना स्वाध्याय नहीं है किन्तु उन सब परिज्ञानों से आत्महित का शिक्षण लेना और आत्महित के आचरण की पात्रता बनाने का यत्न करना सो स्वाध्याय है। जैसे प्रथमानुयोग में कुछ पढ़ते हैं तो उस जैसी ही योग्यदृष्टि व कार्य करने का अपने में साहस बनाया सो स्वाध्याय हुआ। जैसे करणानुयोग में, १००० योजन की अवगाहना वाला मत्स्य स्वंभूरमण समुद्र में है तो उसको पढकर यह शिक्षा लेना कि ये सारी विडम्बनायें, ऐसी-२ देहों में उत्पन्न होना, सब अपने एक निज सहज चित्स्वरुप के परिज्ञान के बिना हुआ करता है अतः अपने आपको सम्भाल करना योग्य है। इसी प्रकार कर्मों की रचना पढकर अपना हित रुप उद्यम करना सो स्वाध्याय है। इसी प्रकार लोक रचना का ज्ञान कर ऐसा भाव बने कि आत्म ज्ञान बिना ही ये ऐसे-२ ३४३ घन राजूप्रमाण लोक में जन्म मरण करता है अतः मनुष्य जन्म पाकर आत्महित करें ऐसा भाव बनाना सो स्वाध्याय

है। इसी प्रकार द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का विवेचन पढ़कर अपने आपको हित रुप में ढालना सो स्वाध्याय नामक आवश्यक कार्य है।

कहीं-२ इस स्वाध्याय के स्थान पर प्रत्याख्यान आवश्यक कहा है। प्रत्याख्यान कहते हैं आगामी काल में किसी प्रकार का पाप भाव नहीं करने की भावना को। तो वह प्रत्याख्यान भी ६ प्रकार का है। अयोग्य पाप के कारण भूत नाम उच्चारण करने का त्याग सो नाम प्रत्याख्यान है, अयोग्य मिथ्यात्वादिक में प्रवर्ताने वाली स्थापना करने का त्याग सो स्थापना प्रत्याख्यान है, पापबंध के कारणभूत सदोष द्रव्य का त्याग सो द्रव्य प्रत्याख्यान, असंयम का कारण भूत क्षेत्र का त्याग सो क्षेत्र प्रत्याख्यान, असंयम का कारण काल का त्याग सो काल प्रत्याख्यान और मिथ्यात्व,असंयम, कषायादि भावों का त्याग सो भाव प्रत्याख्यान है।

६—**कायोत्सर्ग :**

शरीर से ममता छोड़कर खड़े होकर नासाग्र निश्चल दृष्टि से देह से भिन्न शुद्ध आत्मा की भावना करना सो कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक है धनपैसा कमाने के लिये भूखे प्यासे धूप में चले जा रहे हैं, शरीर से ममता नहीं है,सो कात्योत्सर्ग नहीं है। समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की ममता का त्याग होना सो कायोत्सर्ग है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से उत्पन्न दोषों के अर्थ कायोत्सर्ग करना भी ६ प्रकार से होता है।

ये ६ आवश्यक कार्य साधुओं के मूलगुण हैं, विचारो, तो साधू का मुख्य काम तो आत्मध्यान करना है पर आत्मध्यान जब नहीं बन पाता है तो वह बेकार नहीं बैठता है, उक्त ६ आवश्यक कार्यों में लगा रहता है। क्योंकि बेकार बैठना मनुष्य का सबसे बड़ा दुश्मन है। कहते भी हैं कि बेकारी शैतानी का घर है.बेकार बैठने से चित्त विषय कषाय के उपायों की बात सोचता है। अतः कल्याणार्थी गृहस्थ को भी ६ आवश्यक कर्त्तव्य

प्रतिदिन करने योग्य बताये हैं।

देवपूजा : साधु धर्म से ही साक्षात कल्याण है परन्तु जो साधु नहीं बन सकता है, जिसने ग्रहस्थावस्था में रहकर उपासनीय पद्धति से ग्रहस्थधर्म का पालन किया हो। असि,मसि,कृषि,वाणिज्य और पशुपालन इन कार्यों में यह ग्रहस्थ जीव प्रतिदिन दोष उपार्जन करता रहता है इन दोषों का निवारण षट आवश्यक कर्म पालन करने से होता है. इससे आत्मा की शुद्धि होती है। इन ६ कर्त्तव्यों में पहला आवश्यक है—देवपूजा यानि भगवान की भक्ति करना, परमात्मा का स्मरण करना। जो आत्मा राग द्वेषादि सर्व दोषों से रहित हैं व सर्वज्ञ हैं वही परमात्मा का स्वरूप है, ग्रहस्थ ऐसा ही होना चाहता है अतः उसकी भक्ति सच्चे देव में उत्पन्न होती है। रागद्वेष के चक्र में फंसे हुये जीवों की निवृत्ति का उपाय प्रारम्भ में रागद्वेष रहित एवं सर्वज्ञ तथा अनंत आनन्दमय देव की भक्ति उपासना करना है, देव भक्ति में वीतरागता का भाव, वीतरागता का स्मरण व वीतरागता का उद्धेश्य है। देवभक्ति से पाप का क्षय व पुण्य का संचय होता है। देव पूजा श्रद्धा गुण को पुष्ट करने वाली क्रिया है। वीतराग सर्वज्ञ देव, जिनके कि आत्मा का शुद्ध विकास पूर्ण हो गया है उनके गुणों का चिन्तवन करते हुये अपने स्वरूप की परख कर-कर के यह ज्ञानी ग्रहस्थ निज स्वरूप के आनन्द का अनुभव लेता रहता है। देखो पूजा भक्ति तो सभी मनुष्य करते हैं फर्क इतना है कि कोई देव पूजा करता है, तो कोई स्त्री पूजा, कोई कुटुम्ब पूजा, कोई दुकान पूजा। और भैया अपना मन देव पूजा में लगाना चाहिये। बिना देव दर्शन के कोई भोजनपान करना योग्य नहीं। प्रातः उठकर नान करके हमें देव दर्शन करना चाहिये।

२—गुरूपास्ति :

गुरूओं की उपासना करना, उनसे शिक्षा लेना, उनके साथ विनय का व्यवहार रखना, उनकी सेवा करना ग्रहस्थ का दूसरा प्रधान कर्त्तव्य है। यदि गुरूओं का समागम प्राप्त न हो तो ग्रहस्थों

को धर्म परिचय व धर्म में उत्साह होना कठिन है। गुरुओं के समय-समय पर मिलने वाले उपदेश एक धर्म का संस्कार बना देते हैं, साक्षात मिलने वाले गुरुओं की चर्या के मुद्रा के दर्शन से ग्रहस्थ उत्तम आचरण के लिये प्रीतिवान होते हैं। अज्ञान अन्धकार से हटाकर ज्ञान ज्योति में ले जाने के निमित्त गुरु जन हैं गुरु जनों की सेवा से पवित्रता की वृद्धि होती है और चारित्र गुण पुष्ट होता है। देखो सेवा भी सब करते हैं, लड़कों की सेवा, नाती पोतों की सेवा, दुकान की सेवा, ग्राहकों की सेवा, पर ये सेवा कुछ भला करने वाली नहीं है अतः सोचो और गुरुओं की सेवा भी करो।

३—स्वाध्याय :

अपने खाली समय को व्यर्थ न गवांकर उपन्यास, कहानी आदि न पढ़कर, हमें आत्महित साधक ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्याय से ही स्व पर का विवेक हो सकता है। ज्ञानोपयोग बिना आत्मा का कल्याण ही नहीं। अतः क्रम से हमें स्वाध्याय में प्रगति करना योग्य है। वाचनादि ५ प्रकार का स्वाध्याय बताया है, उसके करने से सम्यग्ज्ञान की पुष्टि होती है। सोचो ये ऋषि जनों के वाक्य जिनमें उन्होंने बड़ी अध्यात्मिक साधना और तपस्यायें करके सारभूत तत्व को स्पष्ट रख दिया है, उसके अध्ययन का उत्साह न जगे, उपन्यास आदि का उत्साह जगे तो समझो कि हम क्लेश मार्ग पर जा रहे हैं।

अपने स्व समय को देखने, क्लेश मार्ग से बचने के लिये स्वाध्याय करना परम आवश्यक है। एक-एक वाक्य पर मनन करने से असीम लाभ होता है। शस्त्र तो देश की रक्षा करते हैं, और शास्त्र हमारी आत्मा की रक्षा करते हैं। आत्मा का भोजन तो ज्ञान है जो नित्य स्वाध्याय से प्राप्त होता है। हम लोगों को परिग्रह संचय करने की, उसकी रक्षा करने की तो फिक्र है पर आत्मा के हित के लिये आवश्यक जो शास्त्र हैं उनकी कोई फिक्र नहीं

हैं आत्म का भोजन तो स्वाध्याय है, ज्ञान है और शरीर का भोजन अन्न है जितना हम शरीर को पुष्ट करते जायेंगे उतना ही आत्मा का अपकार होगा। आत्मा तो तभी प्रसन्न सुखी होती है जब उसका भोजन, ज्ञान उसे मिले।

४—संयम :

गृहस्थ के यद्यपि वैभव हैं, सर्व प्रकार के भोग साधन हैं फिर भी उन साधनों में लिप्त न हो जायें, संयम से रहें यह भी एक आवश्यक कार्य है। भोजन का संयम रहे, बोलने का संयम रहे, गृह का रहन सहन अपना सात्विक रहे, इससे ज्ञानबल बढ़ता है, आनन्द प्रगट होता है। देखो परवश में कितना संयम रख लेते हैं बंधन का, भूख-प्यास का, ठण्ड—गर्मी का। पर स्ववश संयम नहीं किया जाता।

ज्ञानी गृहस्थ अपनी शक्ति प्रमाण संयम का साधन करते हैं। जीवों की रक्षा करना, अप्रयोजन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायू व वनस्पति की भी विराधना नहीं करना, भोजनादि बनाने में यत्नाचार रखना, उद्योगादिक में यत्नाचार रखना प्राणि संयम के उपाय हैं। इन्द्रिय और मन की वृत्ति को संयत रखना सो इन्द्रिय संयम है। ब्रह्मचर्य की अधिकाधिक साधना करना, गरिष्ठ रसीले भोजनों का त्याग करना, सुगन्धित वस्तुओं के मिलाने का यत्न नहीं करना, रागकारक चित्र, नाटक, शरीर, रूपादि नहीं देखना, रागकारक संगीत, गायन, शब्द नहीं सुनना सो तो इन्द्रिय संयम है और इज्जत प्रतिष्ठादि नहीं चाहना सो मनः संयम है। ज्ञानी गृहस्थ का भाव चूंकि सर्व विषय त्याग करके निर्विषय चतैन्य स्वरूप की आराधना में बना रहता है अतः उक्त इन्द्रिय संयम के पालन के लिये वह यत्नशील रहता है। जिस प्रकार बिना शरीर को कष्ट दिये संसार में धन भी नहीं कमाया जा सकता उसी प्रकार आत्म सुख भी शरीर से महत्व हटाकर, उसको थोड़ा सा कष्ट देने पर ही प्राप्त होता है।

५—तप :

इच्छाओं का निरोध करना सो तप है। जिस चीज की इच्छा हुई, उसका त्याग कर देना, अप्राप्त वैभव की तृष्णा न करना, प्राप्त वैभव को अध्रुव मानना, उसमें आसक्त नहीं होना और उसी में अपना धर्म का प्रोग्राम बना कर गुजारा करना, बस यही गृहस्थ का तप है। पर वश की बातों में तो रोज-२ तप चलता है पर उससे उल्टा कर्म का बंधन होता है। अनेक इच्छायें होतीं हैं और उन्हें दिल मसोस कर झक मारकर उदास बनकर बैठ जाना पड़ता है। स्ववश प्रसन्नता के साथ, इच्छा चूंकि विभाव है दुखकारी है इससे मुझे हटे रहना है, ऐसा परिणाम रख कर सहज ही इच्छा से दूर रहना सो तप है।

६—दान :

व्यवसाय आदि व्यवहार में जो पाप होता है उसकी शुद्धि दान (त्याग) से होती है। अर्थोपार्जन में होने वाले पाप की शान्ति, अर्थ के त्याग से ही होती है किन्तु अर्थ का त्याग यदि खोटे कार्यों में लगाता है तो वह उसकी विषय पुष्टि का कारण होने से दान नहीं कहलाता। ज्ञानी ग्रहस्थ ४ प्रकार के दानों को भक्ति पूर्वक करता है।

(१) ग्रहस्थ का मुख्यदान साधुओं को भक्ति पूर्वक सविधि आहार दान देना है। इससे वह यह जानता है कि साधुओं को किस प्रकार से आहार लेना चाहिये, यदि आहार देना नहीं सीखेंगे तो खुद साधु बनने पर निर्दोष आहार कैसे लेंगे, चारित्र कैसे पालेंगे। साधुओं के अलावा वह दीन दुःखी भूखों को भी दयापूर्वक आहारदान करता है।

(२) रूग्ण साधु, श्रावकों को आहार के समय वह प्रासुक औषधिदान करता है तथा साधारण जनों के अर्थ औषधालय आदि खुलवाता है।

(३) साधु त्यागियों को योग्य वसतिका, कुटी, कमरों की व्यवस्था करके तथा उनके योग्य वचनों को बोलते हुये, किसी भी प्रकार का भय

दूर करके व अन्य प्रकार से अभय दान देता है। साधारण लोगों के लिये भी धर्मशाला, भवन, आवास प्रकाशआदि की सुविधा देकर अभयदान करता है। अन्य भी अनेक प्रकारों से जीवों की रक्षा कराकर अभयदान देता है।

(४) ज्ञानी ग्रहस्थ, साधु विद्वानों को योग्य शास्त्रों को प्रदान करके, अनेक शास्त्रों का प्रकाशन करके शास्त्रदान करता है। साधारणजनों को भी उपदेश देकर, उपदेश व्यवस्था करके, विद्यालय खुलवाकर अन्य भी अनेक उपायों को करके ज्ञानदान करता रहता है। परमार्थ साधना में मुख्य दान ज्ञानदान है। दान ग्रहस्थ के लिये प्रगति का काम है, मोही जनों को सर्वस्व समझकर पाप कमाना ठीक नहीं, उदारता से लाभ है। कृपण की तो बात ही क्या कहें, बुरी मौत मरता है और सारा धन लड़कों के लिये छोड़जाता है। केवल भोगों में ही खर्च करने से भी लाभ नहीं क्यों कि 'खाया, खोया, बह गया,' हां जो उपकार में लगाया वह हाथ रह गया।

इस प्रकार उक्त ६ प्रकार के व्यवहार आवश्यक कार्य ग्रहस्थ के हैं। निश्चय से तो आत्मा को समझकर उसमें लीन होना सो आवश्यक कर्त्तव्य है परन्तु इस प्रकार की स्थिति प्राप्त किये विना ग्रहस्थ अपने योग्य धार्मिक कर्त्तव्यों में कभी प्रमाद नहीं करता। उक्त षट कर्त्तव्य में तन, मन, वचन व धन लगाकर सन्तुष्ट रहता है। ये ६ आवश्यक बातें ग्रहस्थ को, मनसे अनावश्यक बातों को हटाने में सहायक हैं यानि इनसे मन की चंचलता मिटती है, मानसिक शान्ति और सन्तुलन प्राप्त होता रहता है इनका सम्बन्ध रत्नत्रय से है। इन कर्त्तव्यों से ही आत्मानुभव का अधिकारी बन जाता है और उसी से सर्व दोष दूर होकर सर्व सिद्धि धाम मिलता है अतः इन कर्त्तव्यों को करके अपने मनुष्य जन्म को सफल करना चाहिये।

इस प्रकार साधु अपने षट् आवश्यक कार्यों का और ग्रहस्थ अपने आवश्यकों का पालन निर्बाध रूप से करने की भावना रखता है और करता है। इस भावना के बल से वह तीर्थंकर जैसी महान पुण्य प्रकृति का बंधक होता है। 卐

सन्मार्ग-प्रभावना

अब सोलह कारण भावनाओं में १६वीं भावना वर्णित की जा रही है इस भावना का नाम है सन्मार्ग प्रभावना। सन्मार्ग कहते हैं रत्नत्रय के मार्ग को। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र यही शाश्वत सुख शान्ति का मार्ग है इसी मार्ग का प्रभाव स्वयं की आत्मा में प्रगट करना और दूसरों में उसकी प्रभावना करना, विस्तार करना, प्रसार करना सो सन्मार्ग प्रभावना है हमें इसी मार्ग को उज्ज्वल करना है, जिस मार्ग से हमें शान्ति प्राप्त हो वही सन्मार्ग है। तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हमारी आत्मा का स्वभाव है, अभेद में रत्नत्रय रूप आत्मा ही है, आत्मा में ही रत्नत्रय प्रगट होता है तो जो ज्ञानानन्द पुन्ज, रागद्वेषादिक परभाव और पर पदार्थों से रहित ऐसे विशुद्ध ज्ञाता न्द स्वरूप मात्र आत्मतत्व की श्रद्धा होना उसका परिज्ञान होना और उस ही में रमण होना सो ही सन्मार्ग है, ऐसी आत्मा की सच्ची अवस्था को हम पहिचानें तभी हम अपने आत्मा की सच्ची प्रभावना कर सकते हैं। क्रोधादिक कषाय तथा मिथ्यात्व भाव के कारण यह आत्मा मलिन हो रहा है, इसलिये इन विकृत परिणामों को दूर कर आत्मा को उसकी स्वाभाविक परम शुद्ध दशा में स्थित करना सो वास्तविक प्रभावना है।

सोचो अनादिकाल से भटकते हुये कितनी दुर्लभता से यह मनुष्य जन्म पाया है। पढ़ते हैं न, "कित निगोद, कित नारकी, कित तिर्यन्च अज्ञान। आज धन्य मानुप भयो जो पायो जिनवर थान" ॥ कहाँ तो निगोद अवस्था में अनंत काल तक एक स्वास में १८ बार जन्म मरण के दुःख भोगे। वहाँ से निकले तो अन्य स्थानों में आये, फिर विकलत्रय हुये, असंज्ञी पंचेन्द्रिय बने, बाद में संज्ञी पंचेन्द्रिय का विकास मिला तो नरक में पैदा हो गये,क्रूरतिर्यन्चबन गये,वहाँ क्या शान्ति रही ? अब बड़ी दुर्लभता से मनुष्य भव पाया है और इतना ही नहीं मनुष्य भव में भी श्रेष्ठ समागम मिला। उत्तम देश, उत्तम कुल,

उत्तम जाति मिली और फिर निर्दोष पवित्र धार्मिक वातावरण का मिलना यह कितनी दुर्लभ बात है, जहाँ प्रत्येक लौकिक पारलौकिक कार्य में अहिंसा की पुट है, पर्व मनाने में, रोजगार आरम्भ में, पूजा पाठ में ऐसा वातावरण मिलना आसानी से होता क्या और फिर धर्म को धारण करने की शक्ति मिली, धार्मिक तत्वों को समझने की योग्यता जगी तो ऐसे उत्तरोत्तर दुर्लभ समागम पाकर मन को विषय कषाय के साधनों में उलझाये रहना, अहंकार ममकार करना योग्य नहीं, इससे तो हम आप कुमार्ग की प्रभावना ही कर रहे हैं, करना चाहिये सन्मार्ग की प्रभावना। ये सारे समागम तो ऐसा यत्न करने के लिये पाये हैं कि सदा के लिये हमारे संकट छूट जायें। तो ऐसी सन्मार्ग प्रभावना स्वयं के जीवन को सदाचरण में ढालने से ही होगी। स्वयं यदि भटा खाते हैं तो दूसरों को भटा के त्याग का उपदेश लग सकता क्या? नहीं। अत: प्रथम तो खुद के शुद्ध आचरण को बनाना प्रभावना के लिये अति आवश्यक है।

हम अभक्ष्य भक्षण करें, रात्रि को भोजन करें, अन्याय प्रवृति में चलें, दूसरों पर दया न रखें, छलकपट कुटिलता के काम करें और फिर चाहें कि धन से, धन के खर्च करने से, बड़े-२ विधान पूजा, पंचकल्याणक आदि समारोह मनाने से सन्मार्ग की प्रभावना हो जाये, तो ऐसी प्रवृत्तियों से सन्मार्ग की छाप लोगों के हृदय पर नहीं पड़ सकती। सन्मार्ग की छाप तो तभी पड़ती है जब हम स्वयं सन्मार्ग पर चलें और अपना जीवन आदर्श बनायें। भैया केवल धर्म के नाम पर पैसा खर्च देने से काम न चलेगा, हमें अपना आचरण अच्छा बनाना चाहिये, अनीति और छल प्रपंच से दूर रहना चाहिये। शान्ति तो नीति और सच्चाई में मिलती है और फिर विचारों जरा कि प्रथम तो अनीति और छल प्रपंचों से वैभव आता नहीं, यह तो मिथ्या कल्पना है कि इस तरह से आया, वह तो पुण्य का उदय पाकर आता है, चाहे उस समय अच्छे भाव कर लिये जाते तो आता, बुरे भाव से तो कुछ कमी ही हो गई। अत: यह निर्णय करो कि पहिले अच्छे भाव कर

लिये थे सो आया है। और फिर जो आगया वह शान्ति का कारण है क्या ? शान्ति का कारण यदि वैभव सम्पदा लौकिक यश प्रतिष्ठा होती तो तीर्थकर चक्रवर्ती आदि ६ खंड की विभूति को त्याग कर अपने आपके सन्मार्ग में क्यों बढ़ते। वास्तविक प्रभावना तो यह है कि अपने रत्नत्रय तेज के द्वारा अपने आत्मा में प्रवेश करें। इस जीव को अपने सन्मार्ग का ही यथार्थ सहारा है। सर्वोत्तम सन्मार्ग प्रभावना तो यही है कि अपने आपको निर्विकल्प ज्ञान मात्र सबसे निराला निरखें उसमें ही लीन हों तो उससे आत्मा के गुण बढ़ते हैं. उनकी प्रभावना होती है। अपने आप में अपना सन्मार्ग बनायें, यह वास्तविक सन्मार्ग प्रभावना हैं।

अपने और पर के स्वरुप का यथार्थ निष्पक्ष ज्ञान जगे। सम्यग्ज्ञान को जगाकर अज्ञान अंधकार को हटायें और सम्यग्ज्ञान से यथायोग्य जिन शासन का महात्म्य फैलायें यही मार्ग प्रभावना है। सम्यग्ज्ञान मनुष्य को विवेक देता है और मोक्ष मार्ग पर लगाता है। सम्यग्ज्ञान जड़ पदार्थ से रूचि हटाकर आत्मा में रूचि लाता है। सब लोग धर्मात्मा बनें, संसार में कहीं अज्ञानता न रह जाये, सम्यग्ज्ञानी बनें यही मार्ग प्रभावना है। सम्यग्ज्ञान पाये बिना अज्ञानी जीव अपना अहित तो करता ही है अपने साथ वह दूसरों का भी अहित करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है। और फिर सोचने की बात तो यह है कि यदि हमने सन्मार्ग पाप्त नहीं किया, विषय और पापों में लगे रहे तो इसके फल में मेरी क्या गति होगी? कोई सहायी न होगा। स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ेगा। अपनी आत्म रक्षा करना यही सर्वोत्कृष्ट बात है, आत्म रक्षा के लिये समस्त पर संसर्ग को त्याग कर अपने आत्मतत्त्व से ही लगाव रखना चाहिये। दूसरे का उपकार भी तभी संभव है, जब स्वयं अपने आप का कुछ उपकार करलें।

उत्कृष्ट धर्म का मार्ग तो आरम्भ परिग्रहों का त्याग करके अनगारता अंगीकार करने में है। जहां ऐसी स्थिति न आ सके तब अपने

गृहस्थ धर्म को योग्य रीति से निभाना यह भी सन्मार्ग है। गृह, सम्पदा न छोड़ी जा सके तो रहें घर में परन्तु यदि सम्पदा बहुत है, तो पहिले यह सोचें कि हमने, या हमारे निकट पूवजों ने किसी पर अन्याय तो नहीं किया है, यदि यह विदित हो कि अमुक पर अन्याय करके धन कमाया है तो उसका धन वापिस करदें, उससे क्षमा याचना करें, यह है सन्मार्ग की प्रभावना व अपने धर्म का पालन। धन बहुत हो तो नवीन उपार्जन न करें तथा उसी में गुजारा करके इन्द्रिय विषयों की अभिलाषाओं का परित्याग करें। यह सब हो सकता है तभी जब निज सहज ज्ञान स्वरूप की दृष्टि जग जाये। केवल एक शुद्ध ज्ञाता दृष्टा रह जाऊं, तभी वास्तविक आनन्द और भलाई है ऐसी चाह रहना चाहिये। परिग्रहीयों के तो क्लेश ही क्लेश हैं भले ही ऊपर से ठाठबाट दिखें। परिग्रह का सम्बन्ध तो क्लेश का ही कारण बनेगा। बाईबिल में लिखा है कि चाहे सुई के छेद में से ऊंट निकल जाये, पर परिग्रह के रहने से शान्ति कभी हो ही नहीं सकती। अतः विषयों की लालसा कम करें और मन, वचन, काय व धन जो मिला है सो सबका सदुपयोग करें। दुःखी, दीन, गरीब, रोगी, अनाथ विधवा के उपकार में तन, मन, धन, लगावें यह भी सन्मार्ग प्रभावना है। उदार आशय रखने में तो लाभ ही लाभ है। दयादान, परोपकार में ज्ञान किरण मिलती है, निज स्वरूप का स्पर्श सम्भव है। और यहाँ का धन वैभव तो किसी के साथ कुछ जाना नहीं हैं। सब, जिनके पास है वे, और जिनके पास नहीं है वे, अकेले ही जायेंगे और पूरे के पूरे हो जायेंगे, ऐसे अपने रत्नत्रय की उपासना से सन्मार्ग की प्रभावना करना सो सन्मार्ग प्रभावना है।

अपनी वाह्य प्रवत्ति ऐसी हो कि जिसको देखकर अनेक जीवों के हृदय में धर्म की महिमा प्रवेश कर जाये। भगवान जिनेन्द्र के जन्म कल्याणक के उत्सव पूजनादि गा बजाकर स्वर के साथ भावों से करें। पर्वो में समस्त आरम्भ छोड़ जिनेन्द्र के गुणों तथा भक्ति

में लीन रहें। चार अनुयोग के सिद्धान्तों का प्रभावकारी व्याख्यान करके लोगों को धर्म मार्ग पर लगावें। घोर तपश्चरण आदि करके प्रभावना करें। खोटा काम न हो, खोटा वनिज, व्यापार न हो, निंदा योग्य वचन न बोलें, तीव्र लोभ प्रवृत्ति न हो। पंच पापों से दूर रहें, धर्म की निंदा व हंसी करने वाला कोई कार्य न करें, परोपकार के कार्यों द्वारा प्रभावना करना चाहिये। आवश्यकतानुसार जिन मन्दिर बनवाना, जिनेन्द्र के बिम्ब की प्रतिष्ठा करवाना भी मार्ग प्रभावना है।

इस प्रकार पूजन विधान, उपदेश, व्याख्यान, ज्ञानी का समागम जुटाना आदि अनेक उपायों से धर्म प्रभावना करना, जिन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना सो व्यवहार प्रभावना है। उत्सव, मेला करने के सब व्यवहार कार्य ज्ञानवर्द्धक पद्धत्ति से होना चाहिये। प्रभावना तो वही है कि जिन पद्धतियों, प्रवृत्तियों से, उत्सवों से लोग यह जान सकें कि इनका सिद्धान्त बड़ा महान है। इनके सिद्धान्त के बल से ही वास्तविक शान्ति हो सकती है। जिससे धर्म की शान बढ़े ऐसे कार्य करना सो प्रभावना है। ज्ञानी पुरुष कोई ऐसे कार्य नहीं करता जिससे कि धर्म को बट्टा लगे, समाज पतित समझा जाने लगे, जिससे हमारे बुजुर्ग अयोग्य माने जाने लगें, जिससे कि साधू सन्तों की तपस्या को धब्बा लगे। वह तो न्याय, करुणा, समता और क्षमादि प्रवृत्तियों द्वारा धर्म प्रभावक होता है।

किसका दिल प्रसन्न न होगा, किसका चेहरा फूल की तरह न खिल उठेगा, किसका सारा देह पुलकित न हो उठेगा, जब वह सुनेगा कि भारत में कभी ऐसा भी समय था जब कोई भूखा उठ तो सकता था, पर कोई भूखा सो नहीं सकता था। जब भारत में दरवाजे बन्द करके सोना गुनाह समझा जाता था। जब बच्चे और महिलायें कहीं भी, कभी भी, अकेले जाने के लिये आजाद थे और सुरक्षित थीं

था। जब मेहमान की खातिर दारी महान धर्म समझी जाती थी। यही सब तो है धर्म प्रभावना या हृदय की महत्ता। सन्मार्ग प्रभावक का हृदय, बुद्धि आत्मा के काबू में रहता है। वह ऐसे कृत्य नहीं करता जो समाज में कुभावनाओं का पोषण करें। आज प्रभावना के नाम पर मन बहलाव जैसी चीजें होतीं हैं। धर्म के अनुयायियों के विषय, इन्द्रियां पुष्ट होतीं हैं और सत्कर्म भावना निर्बल बनती है, आज जैन संस्कृति का अर्थ अच्छे संस्कार न रहकर पहनावा उढ़ावा, खानपान या भजन कीर्तन मात्र रह गया है। ज्ञानी पुरुष के उदात्त भाव होते हैं, देखो राम को। राम माथे पर शिकन लाये बिना राज तिलक माथे से पोंछ, मुकुट फेंक, वल्कल वस्त्र धारण कर बनवासी बन जाते हैं और लक्ष्मण को देखो—राम के साथ-२ चल देते हैं। रामायण के यह उदात्त भाव ही आज जीवित हैं। परन्तु हम आज की स्थिति पर मिलान करें तो जो जहाँ चिपका है चाहे शासन में हो और चाहे धार्मिक संस्थाओं में, कोई पद त्याग करना ही नहीं चाहता, स्वार्थ सिद्धि में लगे हैं सब। ऐसी प्रवृत्तियों से धर्म की प्रभावना नहीं हो सकती। आज हम अपनी दैनिक प्रवृत्तियों को देखें तो मन्दिर में स्वरताल से गाकर पूजा करते और दुकान पर लेने के बाट अलग और देने के अलग। हर चीज में मिलावट करके बेचते हैं। दूसरे का जेवर हड़प कर जाते। ऐसी हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह लालसा वाली प्रवृतियों से सन्मार्ग प्रभावना नहीं हो सकती। आज लोग आडम्बरों में फंस कर धर्म से दूर होते जा रहे हैं, उसके सारे काम ऐसे हो रहे हैं, जो धर्म और संस्कृति को बदनाम करने वाले हैं। ज्ञानी पुरुष तो अपनी तन, मन, धन, वचन की, सेवा पूर्ण प्र वृतियों द्वारा सन्मार्ग प्रभावना करता है, जिससे कि धर्म चमकता है। वह सभी जीवों को धर्मात्मा बनने की प्रेरणा देता रहता है, वह सभी जीवों पर प्रेम भाव रखता है, स्वय कष्ट सह लेता है, पर दूसरों को कष्ट नहीं दे सकता। उक्त उज्जवल प्रवृत्तियों द्वारा हमें धर्म की प्रभावना करना चाहिये। हमें निरन्तर ऐसी भावना करनी चाहिये कि हमारे द्वारा जिन शासन की प्रभावना होती रहे।

卐

प्रवचन वात्सल्य

तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारण भूत अंतिम भावना है प्रवचन वात्सल्य। अब इसी प्रवचन वात्सल्य भावना की बात कही जा रही है। प्रवचन से तात्पर्य है देव, गुरु, धर्म से। इन तीनों में प्रीति भाव का होना, वात्सल्य होना सो प्रवचन वात्सल्य है। जिनमें रत्नत्रय की पूर्णता हो गई और जो पूर्ण वीतरागी, निर्दोष सर्वज्ञ बन गये ऐसे ज्ञान पुन्ज देव में प्रीति उत्पन्न होना और इसी स्थिति के प्राप्त करने की उत्सुकता वाले मोक्षमार्गियों में अनुराग का जगना सो प्रवचन वात्सल्य है। निर्दोष और निःसंकट स्थिति के प्राप्त होने का साधन है अपने शुद्ध सहज स्वरूप की दृष्टि रहना। इस शुद्ध परिणमन की दृष्टि में कारणभूत जो भी साधन हैं उन सभी साधनों में प्रीति की भावना होना सो प्रवचन वात्सल्य है। जो पंच महाव्रत ५ समिति और ३ गुप्ति रूप ऐसे १३ प्रकार के चारित्र के धारी, शील और समता के भन्डार, २२ परिषहों को जय करने वाले, पंचेन्द्रिय के विषयों के विजेता और निरन्तर ज्ञान, ध्यान, तप में उद्यमी ऐसे निर्ग्रन्थ साधु जनों में प्रीति करना सो गुरु विषयक प्रवचन वात्सल्य है। जो साधू की स्थिति और आदर्श प्राप्त करने के अभिलाषी ऐसे उत्कृष्ट श्रावक, क्षुल्लक, ऐलक जिनके अत्यल्प परिग्रह एक कोपीन मात्र परिग्रह, शेष के त्यागी ऐसे साधक जनों में अनुराग सो प्रवचन वात्सल्य है इसी प्रकार स्त्रियों में सर्वोत्कृष्ट पद आर्यिकाओं का है, उन आर्यिकाओं में, उनके गुणों में वात्सल्य भाव होना, धर्मानुराग होना सो भी प्रवचन वत्सलत्व है और फिर श्रावक जनों में, असंयत सम्यग्दृष्टियों, साधर्मीजनों में सहधर्मिता के कारण वात्सल्य भाव होना सो प्रवचन वात्सल्य है।

अज्ञानी भी वात्सल्य तो करता है परन्तु उसका वात्सल्य मोही जनों में और उसके साधनों में है जैसे वैभव सम्पदा में, कुटुम्बियों में,

यशनाम, ख्याति के चाहने में। वह जिनसे प्रीति करता है उससे इस आत्मा को लाभ कुछ नहीं है प्रत्युत हानि ही हानि है। वर्तमान में भी लाभ नहीं है, और भविष्य में भी लाभ नहीं है। धनोपार्जन से निवृत्ति भाव रखकर सत्सग स्वाध्याय में अपना समय लगावें, जिससे कि रत्नत्रय धर्म की प्रगति हो तो आत्मा का हित है। यहाँ के मायामय पदार्थों में, इन संसार, शरीर भोगों में प्रीति करके अज्ञान भाव में बसे रहना, अधर्म का आचरण करना योग्य नहीं। ज्ञानी संतों की तरह धर्म में वात्सल्य उपजे, अधिकाधिक धर्मानुराग में जीवन वितायें तो आत्मा का हित है। धर्म तो वास्तव में अपने अनादि अनंत अहेतुक अतःप्रकाशमान शाश्वत निज कारण परमात्मतत्व की दृष्टि करना है अपने ध्रुव ज्ञायक स्वभाव का आश्रय लेना है और इसके साधक जितने व्यवहार कार्य हैं, उन सब आवश्यक व्यवहार साधनों का पालन करना भी धर्म है, ऐसे धर्म में भी वात्सल्य जगना सो प्रवचन वात्सल्य है। इस प्रकार देव गुरु, और धर्म में प्रीति भाव होना सो प्रवचन वात्सल्य है। भैया ! जब कभी ऐसा उत्साह जगे, ज्ञान बल से या प्रभु की शुद्ध शान्तिमयी मूर्ति निरखकर या किसी साधू सत्संग में किसी भी जगह, जब यह उत्साह जगता है कि संसार में कहीं भी सुख नहीं है केवल एक अपने आत्मा को अकेले अपने स्वरूप में देखा जाये तो शान्ति तो यहां ही भरी है, किसका कौन है? मेरा तो मात्र मैं ही हूँ ऐसा जब धर्म स्वरूप निज आत्म तत्व का आदर कर लिया जाता है। तो उस समय कैसी अद्‌भुत शान्ति का अनुभव होता है। तो शान्ति धर्म के विना प्राप्त नहीं हो सकती। इस कारण एक ही अपना निर्णय बनाओ कि जितना भी अपना झुकाव हो सके वह धर्म की ओर ही करना है। धर्म करने का अपना जीवन में लक्ष्य रखें, परिजन और धनसंचय का लक्ष्य न बनायें। धर्म ही इस जगत की रक्षा कर सकता है, देखो जब तक चित्त में धर्म बसता है तब तक तो सुख शान्ति है और धर्म अपने में से हटा कि क्लेश ही क्लेश हैं। लड़ाई विवाद, ईर्षा, घृणा, दूसरों से

वदला लेने का भाव, दूसरों का बुरा करने का विचार ये सारी गंदगियां जिस हृदय में होतीं हैं, वह मनुष्य क्या सुख शान्ति से रह पाता है ? अरे सब दुष्परिणामों और कुकर्मों को त्यागकर एक धर्म का आश्रय करे, अपनी पायी हुई शक्ति के माफिक धर्म कार्यों में लगें यही एक मात्र कर्त्तव्य है। धर्म के लिये सर्वस्वसमर्पण करने का भाव रखना चाहिये : देखो पूर्व पुराण पुरुषों के भी ऐसे कथानक आते हैं कि धर्म पालन के हेतु अपने प्राण भी दे दिये, पर धर्म प्रभावना और धर्म पालन का संकल्प न छोड़ा। अकलंक निकलंक देव का कथानक सुना होगा आपने। इन दोनों वालक महापुरुषों ने एक हितकारी धर्म की प्रभावना के ध्येय से घर छोड़कर जगह-२ कष्ट सहकर विद्यार्जन किया। दोनों ब्राह्मण पुत्र थे और दोनों ही कुशल वुद्धि के थे। एकवार के पढ़ने से अकलंक को और दोवार के देखने से निकलंक को विद्या याद हो जाती थी। उन दोनों की रुचि थी कि हम सभी प्रकार के धर्मों का, सिद्धान्तों का ज्ञान करें सो उन्होंने कई जगह अध्ययन किया। एक वार बौद्ध पाठशाला में भी अध्ययन किया। पढ़ते-२ काफी समय गुजर गया। एक दिन गुरु स्याद-वाद का पाठ पढ़ा रहे थे, एक जगह अटक गये, कोई एक शब्द की गलती थी पुस्तक वंद कर दी, गुरु जी ने कहा, कल पढ़ायेंगे। अकलंक निकलंक देव ने अवसर पाकर उस शास्त्र की गलती सुधार दी। ये तो विद्यार्थी ही थे। दूसरे दिन गुरु जी ने जव सुधरा हुआ पाठ देखा तो उन्हें वड़ी चिन्ता हुई। मालूम होता है कि इन विद्यार्थियों में कोई जैनी भी है अब उनका कैसे पता लगायें ?—

एक उपाय ध्यान में आया, एक जैन मूर्ति रखी और सब लड़कों को कहा कि इस मूर्ति को लांघते जाओ जो इस मूर्ति को नांघेगा समझो वही जैन है, बड़ी कठिन समस्या थी अकलंक निकलंक देव को। सोचने के वाद दोनों ने तै किया कि नहीं लांघते हैं मूर्ति को, तो स्पष्ट उनके ही विरोधी सावित होते हैं और ऐसे समय में जिस उद्देश्य को लेकर अपना जीवन वनाया है उसमें सफल ही नहीं हो

सकतें। उद्देश्य क्या था कि जो यथार्थ ज्ञान है, वस्तु का स्वरूप है, वह जगत के सामने आये, यह थी उनकी धर्मवत्सलता। वे दोनों एक निर्णय कर पाये कि एक-२ धागा लें और उस मूर्ति पर डालकर और यह मानकर कि यह परिग्रह सहित हो गई,लाँघ जायें। भावों की ही तो बात है, लाँघ गये धागा डालकर। इस से कुछ पता न पड़ पाया। तब दूसरा एक अन्य उपाय किया। रात्रि में अचानक ३ बजे वर्तनों को पटक कर जोर की आवाज की, उसका शोर हुआ, घबड़ा कर सब लोग अपने-२ इष्ट मंत्र को जपने लगे। ऐसी स्थिति में कोई बनावट की बात नहीं कर सकता है। अकलंक निकलंक अपना परमेष्ठी मंत्र जपने लगे, बस गुरु ने उन दोनों ही को पकड़ लिया, और उन्हें जेल में बन्द कर दिया। दोनों बालकों की विशुद्ध धारणा थी, देवताओं ने सहायता की, पहरेदार सो गये, कपाट खुल गये। वे दोनों निकल गये, पर दिन में ७, ८ बजे बहुत बड़ी चर्चा फैल गयी। राजा ने नंगी तलवार लिये हुये चारों ओर सैनिक भेजे और कह दिया कि जहाँ भी वह दोनों बालक मिलें, उनका सिर काट कर ही लाना। अकलंक निकलंक चले जा रहे थे, पीछे अंदाज कर लिया कि सैनिक नंगी तलवार लिये आ रहे हैं मामला तो सब समझ ही रहे थे। वहाँ अकलंक निकलंक में परस्पर इस बात पर विवाद हो गया कि हम ही मरेंगे, तुम जिन्दा रहो......नहीं नहीं......तुम बुद्धिमान हो पहले हमें ही मरने दो तुम जिन्दा रहो, और धर्म की सेवा करो। निकलंक बोला कि आपको एक बार पढ़ने से याद हो जाता है, तुम बुद्धिमान हो मुझे पहले मरने दो, अपनी मृत्यु के लिये उनमें विवाद हो गया। निकलंक, अकलंक के पैर पकड़कर भिक्षा मांगता है, मेरे भाई मुझे मर जाने दो, मुझे भीख दो, तुम इस तालाब में घुस जाओ। सोचो कि निकलंक का कितना बड़ा बलिदान था कि धर्म की प्रीति में उन महा पुरुषों ने अपने प्राण दान भी किये। तो देखो धर्म की वात्सल्यता में अपने आपको कितना बड़ा न्योछावर किया जा सकता है।

भैया सुख का मार्ग, शान्ति का मार्ग, आनन्द का मार्ग धर्म ही है और वह बिल्कुल अपने निकट ही है लेकिन अज्ञान वश पर पदार्थों में उपयोग फ़साकर, स्नेह करके दुखी बन रहे हैं हम कपड़े के खून का धव्वा खून से ही धोना चाहते हैं। अरे चेतो आत्मन् ! राग द्वेष रूप अपराध को मिटाओ और वीतरागता का सेवन करो तो वेदनायें मिटेंगी। अपनी आत्मा पर प्रेम करो, शरीरादि पर पदार्थ तो अपने से भिन्न हैं छूट जाने वाले हैं, ऐसा समझकर अपने आत्मा से प्रीति करना, धर्म में अनुराग रखना यही प्रवचन वात्सल्य भावना है। जो व्यक्ति अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं समझते और उसके हित के लिये कुछ नहीं करते, वे संसार में दूसरे प्राणियों के लिये भी कुछ नहीं कर सकते। अतः अपनी हम यही भावना बनायें कि प्रभुभक्ति में मन लगे, शास्त्राभ्यास करें, आर्य पुरुषों की संगति रहे और यथा शक्ति व्रत और उपवास करें। देव गुरु और धर्म के सहारे से इनमें प्रीति भाव रखने से हम स्वयं अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं। धन संपदादि से अनुराग छोड़ें और सम्यग्ज्ञान से मोह को नष्ट कर आत्मा के गुणों में वात्सल्य करें। कुटुम्बी, स्वार्थी जनों के अर्थ मरना, दुःख सहना, कुबुद्धियाँ उपजाना ठीक नहीं।

धर्मात्माओं में, सहधर्मी जनों में प्रीति रखना सो भी वात्सल्य है। गुणी जनों के गुणों में अनुराग रखना वात्सल्य है। वात्सल्य माने ऐसा प्रेम जैसा गाय अपने बछड़े को करती है। निश्छल निस्वार्थ प्रेम हो, कृत्रिम नहीं बल्कि स्वाभाविक, प्राकृतिक उसका नाम वात्सल्य है जैसा मां का अपने शिशु के प्रति होता है। ज्ञानी पुरुष का वात्सल्य मोह जन्य नहीं, ज्ञानजन्य होता है। वैसे तो गाय का अपने बछड़े पर प्रेम या मां का अपने शिशु के प्रति प्रेम भी मोहजन्य है यहाँ दृष्टांन्त में उस प्रेम की बात एक देश ही लेना, उसकी अकृत्रिमता वाला आशय ही समझना, वैसे शेष में तो उसका सारा प्रेम मोह जन्य है, मूर्खता पूर्ण है और उनमें पशुता, रागद्वेष

का मिश्रण है। कोई गाय दूसरी गाय के बछड़े को अपने थनों से नहीं लगने देगी। डेरी फार्म की गायें किसी भी बछड़े को लगा लेतीं हैं, पर यह तो आदमी की बुद्धि का फल या उसकी चालाकी का फल है। गाय की वीतरागता का नहीं। पैदा होते ही अगर गाय का बछड़ा उससे अलग कर दिया जाये और गाय उसे सूंघने न पावे तो वह किसी भी बछड़े को अपना बछड़ा समझने लगती है। कहने का आशय यह है कि ज्ञानी पुरुष के वात्सल्य में पशुत्व, मूर्खता और रागद्वेष की कालिमा नहीं होती उसका वात्सल्य स्वाभाविक और निश्छल होता है। उसका वात्सल्य शरीर से सम्बन्ध न रखकर, आत्मा का आत्मा से होता है और वात्सल्य तो आत्मा के एक गुण का ही नाम है। विशुद्ध प्रेम का होना सो वात्सल्य है। वात्सल्य गुण निर्मल आत्मा का स्वभाव है। वह धर्मियों की सेवा तन मन धन से करता है। अपने दैहिक दर्द की परवाह नहीं करता, वह सेवा करके अपने भाव में पीड़ा का अनुभव नहीं करता, उसका मन और मस्तक सुख मान रहा होता है। ज्ञानी पुरुष का सारा ध्यान आत्मा के सुख पर केन्द्रित रहता है, विशुद्ध प्रेम में नगर, प्रान्त, समाज और देश की सीमा नहीं रहती। उसका प्रेम देह से न होकर आत्मा से होता है। संसार में जितनी आत्मायें हैं उन सभी आत्माओं के साथ समता स्थापित करना सो धर्म है। धर्म वस्तु का स्वभाव ही तो है। जो आत्मा का स्वभाव रूप धर्म को स्व पुरुषार्थ से प्राप्त करेगा उसकी आत्महित कार्य की सम्पन्नता नियम से होगी। भैया यदि हम साक्षात सकल संयम को धारण कर उत्कृष्ट धर्म साधन नहीं कर सकते तो हमें गृहस्थावस्था में रहकर पंचाणुव्रतों का पालन करना चाहिये और आत्मानुभव में यथाशक्ति अपना पुरुषार्थ कर संकटों से बचना चाहिये। जो पुरुष आचरण करते हैं, उन्हें ही आनन्द प्राप्त होता है।

एक धर्म स्थान में रोज शास्त्र सभा होती थी। एक बार उस

शास्त्र सभा में एक लकड़हारा भी पहुंच गया। उस दिन पं. जी व्याख्यान दे रहे थे वहाँ पाँचों प्रकार के पापों के त्याग का। हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, परिग्रह इन ५ प्रकार के पापों से क्या अनर्थ होते हैं? उसकी व्याख्या को सुन कर लकड़हारे ने सोचा कि मैं और कुछ तो हिंसा करता नहीं केवल हरी हरी लकड़ी काट कर लाता हूँ सो अब हरी लकड़ी नहीं काटूंगा, सूखी लकड़ी ही लाऊंगा, मैं झूठ तो कुछ बोलता न था हाँ यदि लकड़ी का गट्ठा ८ आने का होता है तो उसे १४ आने में ठहराना शुरु करता था सो अब मैं इतना भी झूठ न बोलूंगा, जितनी कीमत लेना उचित होगा, उतने ही दाम बोलूंगा। मैं चोरी में केवल कभी-कभी चुंगी के दो पैसे बचा लेता था सो अब मैं इन्हें भी नहीं बचाऊंगा। ब्रह्मचर्य के विषय में यह सोचता है कि मैं कभी परस्त्री की ओर तो दृष्टि नहीं देता, इस ब्रह्मचर्य में, मैं अब क्या करूं कि अपनी स्त्री में भी ब्रह्मचर्य रखूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा की और परिग्रह परिमाण में उसने यह हिसाब बनाया कि मैं आठ आने रोज कमाता हूँ उसमें २ आने प्रतिदिन मैं दान करूंगा, ४ आने से सब घर का खर्च चलाऊंगा और दो आने पैसे इसलिये संचय करूंगा कि घर में कभी विवाह, काम काज का अवसर आये अथवा कहीं कभी तीर्थयात्रा आदि जाना हो तो उसमें खर्च करूंगा। इस प्रकार यह लकड़हारा बहुत आनन्द से रहने लगा।

एक बार वह किसी बड़े सेठ की हवेली के नीचे से निकला। होगा वह किसी बड़े धनी पुरुष का मकान। रसोईया को लकड़ी की जरुरत थी तो रसोईया नीचे आकर कहता है कि अरे लकड़हारे लकड़ी बेचोगे। हां हां बेचेंगे। कितने में दोगे? ८ आने में देंगे। अरे ४ आने में दोगे क्या? नहीं! ६ आने में दोगे? नहीं! ७॥ आने में दोगे क्या? नहीं। लकड़हारा जब कुछ आगे बढ़ गया तो रसोईया ने कहा अच्छा अच्छा लौट आओ। वह लौट आया तो वह रसोईया कहता है ७॥ आने में दो। तो लकड़हारा बोला कि तूं किस बेईमान का

मालिक सभी बातें सुन रहा था। सोचा कि खरीद तो रहा है यह नौकर और गाली दे रहा है हमें। लकड़हारे को सेठ ने बुलाया और पूछा कि तुम हमें बेईमान क्यों कहते हो तो लकड़हारा बोला महाराज सुनों, हम आपकी शास्त्र सभा में एक दिन गये थे, वहाँ हमने पंच पापों के त्याग का उपदेश सुना—सो मैंने तो इस-इस तरह से पापों का त्याग कर दिया, सब सुनाया उसे। मैं झूठ नहीं बोलता, मैं तो शुरु से ही ८ आने कहता जा रहा था और जब बहुत दूर निकल गया तो इसने कहा अच्छा-२ लौट आओ...तो इसका मतलब यह हुआ न, कि ८ आने में ले लेंगे, पर जब लौट आया तो कहता है कि ७॥ आने को देंगे तो मैंने यही अर्थ लगाया कि यह नौकर ऐसे हो वातावरण में रहता है। और फिर सेठ जी आप तो रोज शास्त्र सभा में जाते हैं परन्तु पंच पापों में आपके किस पाप का त्याग है? जरा सोचो तो। मैं तो एक ही बार शास्त्र में गया और जीवन में परिवर्तन किया, अपना आचरण धर्म का बनाया। वह धनिक बड़ा प्रसन्न हुआ और लकड़हारे से क्षमा मांगली। बोला कि हम भूल पर थे। जो काम हमें करना चाहिये वह नहीं करते थे। और उस दिन से सेठ ने भी, धर्माचरणमय जीवन बना लिया। तो हमें धर्म की दृष्टि कभी नहीं भूलना चाहिये। संसार की समस्त वस्तुओं को असार जानकर, उन्हें धूलवत समझकर उनसे ममत्व भाव न रखें अपना जो निजतत्व है ज्ञानोपयोग. ज्ञान भाव स्वभाव है उसकी दृष्टि और आश्रय करें और व्यवहार में देव गुरू, धर्म में प्रीति लावें यही प्रवचन वात्सल्य नाम की भावना है। प्रवचन वात्सल्य से अनेक ऋद्धि सिद्धि प्रगट होतीं हैं। वात्सल्य से ही दान की कृतार्थता है। वात्सल्य बिना तो इस लोक का भी काम नहीं होता तो फिर परमार्थ सिद्धि में तो वात्सल्य साधक है ही। अतः षटकाय के जीवों में वात्सल्य करो।

इन १६ कारण भावनाओं की महिमा अचिंत्य है इनका निर्दोष पालन करने से अतिशय रूप अनुपम विभव के धारक तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। अतः इन भावनाओं को निरन्तर भावो।

ज्ञान और वैराग्यः-शान्ति मार्ग

(एक अनुचिन्तन)

शान्ति मार्ग अति सरल और स्वाधीन है किन्तु अज्ञान और असंयम के कारण वह कठिन बन रहा है। इन्द्रिय विषय वासना ने उस मार्ग को विस्मृत करा दिया है, व्यक्ति आज के उन्नत वैज्ञानिक युग में जिस ज्ञान पर इतना इतरा रहा है वह शान्ति मार्ग सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान नहीं है। और इसीलिये उसकी अधिकाधिक वृद्धि हो जाने पर भी वह सुख की बजाय दुःख का ही ग्रास बनता जा रहा है। शान्ति की बजाय अशान्ति व संताप का ही सम्पादन कर रहा है। और समस्याओं को सुलझाने की बजाय उन्हें अधिकाधिक उलझाता ही जा रहा है। इसका कारण यह है कि इतना बड़ा वैज्ञानिक बनकर भी वह भ्रान्त ही बना हुआ है। वह जिन बाह्य दृष्ट पदार्थों को शान्ति प्रदायक वस्तु समझ कर उनके उत्पादन रक्षण व संग्रह में जुटा हुआ है। वे इसके शान्ति मार्ग सम्बन्धी यथार्थ साधन नहीं। इसी प्रकार धर्म मार्ग के साधक भी बाह्य पदार्थों के त्यागादि रूप, ये अज्ञानी जीव जिन ज्ञान शून्य व्रत, जप, तपादि में जुटे रहकर ही शान्ति चाहते हैं वह भी शान्ति का यथार्थ मौलिक उपाय नहीं हैं।

तब फिर शान्ति-मार्ग के लिये यथार्थ मौलिक वस्तु स्वभाव का जानना परमावश्यक है। क्योंकि उसके परिज्ञान बिना उक्त भ्रान्ति तथा उस जनित विफलता व क्लेश दूर नहीं हो सकते।

इस विश्व में समस्त पदार्थ अनंतानंत हैं। अनंतानंत जीव पदार्थ, अनंतानंत पुदगल पदार्थ, एक धर्म पदार्थ, एक अधर्म पदार्थ, एक आकाश पदार्थ और असंख्यात काल पदार्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वतः सिद्ध है। असत् का किसी भी रूप में कभी उत्पाद नहीं हो सकता है और न सत् का नाश हो सकता है। जो स्वतः सिद्ध होता है वह अनादि से होता और अनंतकाल तक रहने वाला होता है। और जो सत् होता है वह परिणमन शील भी होता है। यानि प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायों का परिणमन करता है, पर दूसरे पदार्थों की [illegible]

जीव उसे कहते जिसमें चेतना (ज्ञान दर्शन शक्ति) पाई जावे। पुदगल उसे कहते जिसमें मूर्तिकता यानि रुप, रस, गंध, स्पर्श पाये जावें। धर्मद्रव्य जीव और पुदगल के चलने में निमित्त भूत है। अधर्म द्रव्य चलते हुये जीव पुदगल के ठहरने में निमित्त भूत है। आकाश में सब द्रव्यों का अवगाहन होता है और काल पदार्थ जीवादि सब द्रव्यों के परिणमन में निमित्त कारण है। इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक पदार्थ स्वभाव रुप ही परिणमते हैं। परन्तु जीव और पुदगल नामक पदार्थों में अनेक प्रकार का विभाव परिणमन भी होता है।

जीव के दुर्भाव का निमित्त पाकर अनंतकार्माण वर्गणायें पाप प्रकृति रुप परिणाम जातीं हैं, जीव के शुभ भाव का निमित्त पाकर अनंत कार्माण वर्गणायें पुण्य प्रकृति रुप परिणाम जातीं हैं। और जीव के स्वच्छ भाव (वीतराग भाव) का निमित्त पाकर अनंत कार्माण वर्गणायें निर्जीण हो जातीं हैं। इस प्रकार इन सब भावों की व्यवस्था इस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के आधार से है। जो कर्म रहित शुद्ध जीव हो चुके हैं वे अनंत आनन्द रुप परिणमते रहते हैं।

जीव ज्ञान दर्शन शक्ति व आनन्द का पिन्ड है यह उपाधि संयोग में अनादिकाल से परिणमता चला आया है। विकार परिणाम को निमित्त पाकर कर्मबंध होता है। कर्मोदय का निमित्त पाकर विकार भाव होता है। कर्मोदय की मंदता के अवसरों में अपने आपके पुरुषार्थ के बल से यह जीव निर्मल परिणाम युक्त हो, तो उस परिणाम की परम्परा से यथाशीघ्र कल्याण प्राप्त करता है।

जो पदार्थ जैसे हैं उन्हें वैसे न समझकर उल्टे स्वरुप में उनका ग्रहण करना अज्ञान है। शान्ति मार्ग तो सत्य ज्ञान पर निर्भर है। जीव व पुदगलों के एक समुदाय को नारक, तिर्यन्च, मनुष्य, देव आदि कहते हैं। उन सब भवों में जीव जीव ही है, पुदगल पुदगल ही है। प्रत्येक द्रव्य अन्य समस्त द्रव्यों से बिलकुल भिन्न हैं, अतः किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। जो

प्राणी ऐसा मानता है कि अमुक पदार्थ मेरा है, मैं अमुक का हूँ या अमुक पदार्थ को मैंने किया व भोगा, वे आकुलता ही पाते हैं। और यदि स्वतंत्र-स्वतंत्र स्वरूप में पदार्थों की प्रतीति रहे, निज आत्मा की यथार्थ प्रतीति रहे तो आकुलता का कोई कारण नहीं रहता। अस्तु क्लेश मुक्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान के अभाव से अन्तर में जब अंधेरा है तो भगवद्-भक्ति क्लेश से कैसे छुटकारा देगी। इसी प्रकार तपस्या कितनी ही की जाये, यदि पदार्थों का सत्य ज्ञान नहीं है तो देह आदि पर होने वाले परिणाम संताप, शीत आदि, अन्तर के अन्धेरे वाले उपयोग को शान्ति की ओर कैसे ले जायेंगे। अस्तु शान्ति हेतु सर्व प्रथम ज्ञानोपासना और ज्ञानयुक्त आचरण को ही सर्व ऋषियों ने मंगलमय माना है।

जब सम्यग्ज्ञान के द्वारा प्रत्येक पदार्थ को स्वतंत्र रूप से प्रतीति में लें और फिर स्वातिरिक्त अन्य पर पदार्थों का त्याग कर समस्त संकल्प विकल्पों (विभाव भाव, कषाय भाव) का परित्याग कर, एक अपने रागद्वेष रहित ब्रह्म स्वरूप में ही एकाग्रता करें तो इसी का नाम वैराग्य है, समाधि है और यही पूर्णशान्ति का साक्षात कारण है।

अतः हे आत्मन् यदि अशान्ति से बचना चाहते हो तो परपदार्थ व औपाधिक परिणमन में अहंकार को दूर करो, यथार्थ ज्ञान करो और वीतराग बनो—यह ज्ञान-वैराग्य का मार्ग ही शान्ति का मार्ग है।

॥ ॐ शान्ति ॥

॥ आत्म रमण ॥

मैं दर्शन ज्ञान स्वरूपी हूं, मैं सहजानंद स्वरूपी हूं ॥टेक॥
हूं ज्ञान मात्र पर भाव शून्य. हूं सहज ज्ञान घन स्वयं पूर्ण ।
हूं सत्य सहज आनंद धाम मैं॥——॥
हूं खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं ।
पर का न प्रवेश न कार्य. यहां ॥मैं……॥
आऊं उतरुं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या ।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त ॥मैं——॥

बाहुबलि स्तुति

नाथ बाहुबलि, कर्म दल दल मली, नित्य ध्यायूं,
पुनि पुनि चरणों में शीष नवाऊं ॥ टेक ॥

श्री ऋषभ जिनके तुम पुत्र प्यारे,
माँ सुनन्दा की आंखों के तारे ।
देह में अतुल बल, सुगुण भारी अमल, क्या गिनाऊं ।
पुनि पुनि चरणों में…………… ॥ १ ॥

मान चक्री का तुम खण्ड कीना, युद्ध में आपने जीत लीना ।
जान जग को अथिर, छोड़ जंजाल वर, वन में पांऊं ।
पुनि-पुनि चरणों में——॥ २ ॥

योग धारा कठिन वन में जाके, विल बनाये पशु सुथिर पाके ।
वेल तन पर चढ़ी, घास माटी अड़ी क्या वताऊं ।
पुनि पुनि चरणों में………… ॥ ३ ॥

युद्ध में आपने नाम पाया, योग में भी प्रथम अंक आया ।
चक्री पावों पड़े, हाथ जोड़े खड़े, क्षमा चांहूं ॥
पुनि पुनि चरणों में——॥ ४ ॥

शल्य हटते हुआ ज्ञान केवल, मोक्ष पाई सकल कर्म दल मल ।
भगवद् चरणों पड़ा, हाथ जोड़े खड़ा, सुगुण गाऊं ॥
पनि पुनि चरणों में……—— ॥ ५ ॥

है। जन्म काल में सुमेरु पर्वत पर इन्द्र ने जन्मोत्सव किया, दीक्षा के समय तप कल्याण का समारोह मनाया और केवल ज्ञान होने पर समोशरण की रचना की। तीर्थंकर मुनि अवस्था से लेकर जब तक उन्हें केवल ज्ञान नहीं होता, तब तक मौन रहते हैं और केवल ज्ञान होने पर उनकी समोसरण में दिव्यध्वनि खिरती है। ऐसे तीर्थंकर अरहंत की भक्ति करना, परन्तु प्रमुखता इस बात की रहना चाहिये कि उन्होंने किस प्रकार अपने आत्मा के गुणों का विकास किया। देखो प्रभु के चरणों में बड़े पुरुष चक्रवर्ती इन्द्र देवादि पहुँच रहे हैं यह उनकी वीत-रागता का ही तो प्रताप है, ज्ञान और वैराग्य का ही तो प्रसाद है। तो भक्ति में उसी ज्ञान और वैराग्य की दृष्टि प्रबल होना चाहिये। प्रभु के अन्तः स्वभाव की दृष्टि करके ही विशुद्धि जगती है, स्वभाव मग्नता बनती है और यदि उनके गुणानुराग का लक्ष्य तो न बनें, विषय कषाय पोषने के लिये भक्ति करें तो वह भक्ति यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं।

तीर्थंकर प्रभु की ही यह बात है कि उनके जन्म से ही १० विशेष अतिशय होते हैं जो अन्य मनुष्यों में सम्भव नहीं। पसेव रहित शरीर, मलमूत्र कफादिक रहितपना, दुग्धवर्ण रुधिर, समचतुरस्र संस्थान, वज्र-ऋषभ नाराच संहनन, सुगंधित शरीर, अतुलबल, प्रियहित मधुर वचन, शरीर में १००८ लक्षण, अद्भुत सुन्दर रूप ये १० बातें उनके जन्म काल से ही होतीं हैं। आभरण, वस्त्र भोजनादिक भी उनके स्वर्ग लोक से ही आते हैं। राज्यवैभव भी उनके होता है परन्तु वे सबको असार जानकर बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन कर संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य लेकर तप करते हैं, क्षपक श्रेणी में घातिया कर्मों का नाश होकर, केवल ज्ञान प्राप्त कर अरहंत बन जाते हैं।

केवल ज्ञान के समय भी उनके १० अद्भुत अतिशय होते हैं।

१–वे समोशरण में जहाँ विराजते हैं उसके चारों ओर ४००-४०० कोप तक सुभिक्ष होता है, कोई संकट नहीं रहता है।

२–वे आकाश में ऊपर ही चलते हैं, भूमि का स्पर्श नहीं करते।

३–चारों ओर उनका मुख दिखता है।

४–प्रभु पर कोई उपसर्ग नहीं कर सकता।

५–प्रभु के कवलाहार नहीं होता।

६–उनके समस्त विद्याओं का ऐश्वर्य हो जाता है।

७–उनके नख और केश केवल ज्ञान होने के बाद नहीं बढ़ते।

८–किसी प्राणी का वध नहीं होता।

९–उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती।

१०–उनके नेत्र टिमकार रहित हो जाते हैं।

इतना ही नहीं उस तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से १४ अतिशय देव-कृत भी होते हैं।

१–अर्द्धमागधी भाषा का तात्पर्य यह है कि उनके निरक्षरी दिव्य वचन अनेक भाषाओं रूप परिणमन कर, श्रोताओं के मन को प्रसन्न करते हैं।

२–प्रभु के आवास और विहार के समय परस्पर सब जीवों में मित्रता हो जाती है।

३–समस्त दिशायें निर्मल हो जातीं हैं।

४–आकाश स्वच्छ दीखता है।

५–छहों ऋतुओं के फलफूल एक साथ फलने लगते हैं।

६–पृथ्वी दर्पणवत निर्मल हो जाती है।

७–भूमि तृणकंटक, रज रहित रत्नमयी भासती है।

८–शीतल मंद सुगंध पवन चलती है।

९–४ प्रकार के देवों के द्वारा जय-२ शब्द उच्चरित किया जाता है।

१०– धर्म चक्र १ हजार किरणों वाला, सूर्य के उद्योत को तिरस्कार करता हुआ आगे-२ चलता है।

११–अष्ट मंगल द्रव्य होते हैं।

१२–गंधोदक की वृष्टि होती है।

१३–समस्त जनों के आनन्द प्रगट होता है।

१४–प्रभु के विहार समय पगतलों के नीचे स्वर्ण कमलों की रचना देव करते जाते हैं।

अरहंत के समोशरण में अशोक वृक्ष, पुष्प वृष्टि, दुन्दभि, सिंहासन, दिव्यध्वनी, तीनछत्र, चँवर और भामंडल ये अष्ट प्रातिहार्य तो प्रसिद्ध हैं ही।

अरहंत प्रभु १८ दोषों से रहित होते हैं—क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, विस्मय, राग, द्वेष मोह, अरति, चिंता, खेद, स्वेद, मद और निद्रा ये १८ दोष प्रभु में नहीं रहते। प्रभु अनंत दर्शन अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य इन ४ अनंत चतुष्टय सम्पन्न होते हैं। जिन्होंने मोह रूपी अन्धकार का नाश किया और समस्त पापों का दूरी करण कर आत्मा को अति निर्मल बना लिया है, ऐसे अरहंत प्रभु का स्तवन, भक्ति, उपासना, आराधना करना सो अरहंत भक्ति है।

अरहंत भक्ति आत्म स्वभाव की ओर दृष्टि दिलाने में विशेष कारण हैं। इसलिये आत्मार्थी सकल परमात्मा के द्रव्य गुण पर्याय के यथार्थ स्वरूप का ध्यान करते हैं सकल परमात्मा का आत्मा व यहां हम लोगों का आत्मा द्रव्य दृष्टि से एक समान है। चेतन पदार्थ अरहंत का आत्मा है सो चेतन पदार्थ यहां हम में भी है। गुण (शक्ति) की अपेक्षा भी विचार किया जाये तो उसमें भी अरहंत व हम एक समान हैं। चेतन द्रव्य में जितने गुण होते हैं उतने गुण ही तो अरहंत की आत्मा में हैं व उतने ही हम लोगों की आत्मा में हैं, अन्तर केवल परिणमन (पर्याय) की अपेक्षा से ही है। अरहंत प्रभु वीतराग व सर्वज्ञ हैं किन्तु हम सराग एवं अल्पज्ञ हैं। देखो न, अरहंत प्रभु की आत्मा भी पहिले हम जैसी थी किन्तु क्षयोपशम लब्धिवश बढ़ती हुई विशुद्धि के प्रताप से ऐसी स्थिति पाई कि उपदेश विवेक का ग्रहण किया। और उसमें जो तत्व जाना उसका मनन किया, जिसके प्रताप से विशेष विशुद्धि हुई। विशुद्धि के उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहने पर सम्यग्दर्शन, संयम, विशिष्ट ध्यान होते गये जिसके परिणाम में वे अरहंत बन गये। पं० टोडर मल जी सा० ने "मोक्ष मार्ग प्रकाशक" में अरहंत के स्वरूप की बड़ी सुन्दर परिभाषा की है, वे लिखते हैं-

"जो ग्रहस्थपना त्याग,मुनिधर्म अंगीकारकर, निजस्वभाव साधन तें, चार घातिया कर्मो का नाशकरि अनंतचतुष्टय को प्राप्त भये, वे अरहंत हैं।"

पं. जी ने इस परिभाषा में अरहंत का स्वरूप भी बता दिया और अरहंत बनने की विधि भी बता दी। हम यदि उसी विधि और मार्ग से चलें तो हम भी अरहंत अवस्था प्रगट करने के अधिकारी बन सकते हैं।

हमें अरहंत परमात्मा का ध्यान वीतराग, सर्वज्ञ, अनन्तानन्दमय, अनंत शान्तिमय के रूप में करना चाहिये। उनकी स्तुति जो पुद्गलाश्रित विशेषणों से है, उसको गौणकर आत्माश्रित गुणों की महिमा आना चाहिये। इतना विवेक होना चाहिये कि कौन से विशेषण अरहंत के आत्माश्रित हैं और कौन से शरीर या समोशरणादि विभूति से सम्बन्धित पुद्गलाश्रित हैं। वा ह्यविशेषणों से अरहंत का विशेषपना न मानकर उनके आत्मिक गुणों के प्रति बहुमान जगना चाहिये। अरहंत के

जीव के विशेषण न जानने से मिथ्यादृष्टिपना ही रहता है। मिथ्यादृष्टि अरहंतको स्वर्ग मोक्षदाता, दीन-दयाल, अधम उधारक आदि रूप से अन्य-मति के समान कर्तृत्वबुद्धि वाला मानता है जैसे अन्य लोग ईश्वर को कर्ता मानते हैं, ऐसे ही इन विशेषणों से अरहंत को कर्ता नहीं मानना चाहिये। स्वयं जब हम उनकी भक्ति करते हैं तो उससे अपने परिणाम विशुद्ध होते हैं, उन्हीं विशुद्ध परिणामों का फल अपने को मिलता है, अरहंत तो वीतराग हैं वे किसी का कुछ नहीं करते। उनकी भक्ति से अनिष्ट सामग्री का नाश और इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानना भी भूल है। जब भक्त प्रभु की भक्ति के प्रसंग में होता है तो उसके शुभोपयोग रूप परिणामों से पूर्व पाप का संक्रमणादि हो जाते हैं जिससे इष्ट सामग्री का संयोग उसके हुआ देखा जाता है। अरहंत किसी भक्त या निंदक का कुछ सुधारने बिगाड़ने आते हों, सो ऐसा नहीं हैं। परन्तु भक्त भक्ति के प्रशस्त परिणाम से पुण्यबंध करता है और निंदक निन्दा के भाव से पाप का बंध कर लेता है तब उनके परिणामों से ही उनका सुधार बिगाड़ स्वयमेव होता है, अरहंत कर्ता नहीं हैं। वे तो आश्रयभूत कारण व निमित्त मात्र हैं अतः व्यवहार में स्तुति में ऐसा कथन किया है उसे परमार्थ नहीं जानना चाहिये। कई लोग भक्ति को ही मुक्ति का कारण मानते हैं। भक्ति तो शुभ राग है उससे पुण्य बंध होता है। हाँ भक्ति मोक्ष मार्ग का बाह्य निमित्त मात्र है ऐसा जानकर ज्ञानी तो शुद्धोपयोग के लिये उद्यमी रहते हैं परन्तु जब तक शुद्धोपयोग की स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उपयोग अशुभराग में न जावे, अतः अशुभ राग से बचने के लिये अपना उपयोग प्रभु की पवित्र भक्ति में लगाते हैं। अरहंत के स्वरूप की यथार्थ समझ पूर्वक भक्ति की जाये तो कुन्द-कुन्दाचार्य 'प्रवचनसार' में कहते ही हैं कि प्रभु की भक्ति सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण है। उन्होंने कहा है :—

> जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
> सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्य लयं॥

अर्थात् जो अरहंत प्रभु को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से यथार्थ जानता है वह अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है और उसका दर्शन मोह-नीय कर्म नियम से क्षय को प्राप्त होता है। अतएव अर्हन्तभक्ति सम्यक्दर्शन के लिये प्रधान कारण हैं।

इस प्रकार अरहंत भगवान का यथार्थ स्वरूप समझकर ज्ञानी पुरुष प्रभु की भक्ति द्वारा अपने आत्मा को प्राप्त करने में समर्थ होता है और उसकी अनेक आपदायें विघट जाती हैं जैसा कि पं. दौलत राम जी ने कहा है कि--

तुम गुण चिंतत निज-पर विवेक, प्रगटे विगटैं आपद अनेक ॥अथवा
जय परमशान्ति मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत ॥

अरहंत प्रभु की भक्ति करते समय उनकी ज्ञान लक्ष्मी की ओर ध्यान जाना चाहिये क्योंकि भगवान परमात्मा इस ज्ञान लक्ष्मी के घन सम्बन्ध से आनन्दित हैं। भगवान का स्वरूप शुद्ध ज्ञान और आनन्द-मय ही तो है। तो भगवान का जो स्वरूप है वही भगवान की लक्ष्मी है और उसी लक्ष्मी से प्रभु तन्मय रहा करते हैं। जैसे प्रत्येक वस्तु जगमग स्वरूप है ऐसे ही परमात्मा जगमग स्वरूप हैं। ज्ञान में जगना होता है और आनन्द में मग्नता होती है। यों प्रभु का ज्ञान और आनन्द सहज स्वरूप है, परमात्मा अपने इसी ज्ञान और आनन्द से परमतृप्त हैं और इसी परिणति के कारण वे कृत्य कृत्य हैं निष्ठितार्थ हैं। यानि अब प्रभु को कोई काम जगत में किसी पर पदार्थ में करने को कुछ भी नहीं रहा। प्रभु यदि जगत का कुछ काम करें, सृष्टि रचें, लोगों को सुख-दुःख देवें तो फिर वे निराकुल नहीं हो सकते। अतः प्रभु कृत्य-कृत्य हैं। परमात्मा हो चुकने के बाद फिर प्रभु को इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता वे तो अब अजन्मा हो गये, अविनाशी, अव्यय, अक्षय रूप से सदा काल उसी परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द की स्थिति में रहेंगें। जब उनके मोह, राग, द्वेष रूप विकार विभाव ही समस्त समाप्त हो गये, कोई अशुद्धि का कारण ही न रहा तो फिर संसार में लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। तो ऐसा जो सच्चिदानंद स्वरूप परमात्म तत्व है उसकी भक्ति करना सो अरहंत भक्ति है।

वीतराग की उपासना से हमारी परिणति अत्यन्त विशुद्ध हो जाती है, जिससे सातिशय पुण्य बंध तो होता ही है। परन्तु आत्मोन्नति में अग्रसर होने के लिये भी अरहंत प्रभु ही हमारे आदर्श हैं। आखिर आत्मा की परम विशुद्ध, स्वच्छ, निर्मल अवस्था का नाम ही तो

परमात्मा है, और उस अवस्था को प्राप्त करना सब आत्माओं को अभीष्ट है तब आत्मस्वरूप की या दूसरे शब्दों में परमात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये परमात्मा की पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्त्तव्य है, परमात्मा का ध्यान, परमात्मा के अलौकिक चरित्र का स्मरण और परमात्मा की ध्यानावस्था का चिन्तवन ही हमको अपनी आत्मा की याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधि की स्मृति कराता है—उसी से आत्मा को यह मालूम पड़ता है कि मैं कौन हूं? (कोवाऽहं) और मेरी आत्म शक्ति क्या है? (का च मे शक्तिः) परमात्म स्वरूप की भावना ही आत्मा स्वरूप की उपलब्धि तथा स्थिति का कारण है। अरहंत की भक्ति का मुख्य उद्देश्य वास्तव में परमात्म गुणों की प्राप्ति की भावना है। हमें अपना आत्म लाभ हो, प्रभु जैसे गुणों की प्राप्ति हो, यह उद्देश्य अरहंत भक्ति भावना में भक्त के समाया रहता है। जैसे कि 'सर्वार्थसिद्धि' में श्री पूज्यपादाचार्य ने लिखा है :—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, वंदे तद्गुण लब्धये॥

जो लोग केवल लौकिक प्रयोजनों की दृष्टि से-संसारिक विषय कषायों को पुष्ट करने के गरज से-परमात्मा की उपासना करते हैं, उनके नाम पर तरह-तरह की बोल-कबूलत बोलते हैं और फल प्राप्ति की शर्त पर पूजा-उपासना का वचन निकालते हैं, वे परमात्मा के गुणों में वास्तविक अनुराग रखते हैं यह नहीं कहा जा सकता। तथा वे परमात्मा के स्वरूप से भी अनभिज्ञ हैं। परमात्मा का भजन, चिन्तवन करने से, उनके गुणों में अनुराग बढ़ाने से पापों से निवृत्ति होती है और साथ ही महत्पुण्योपार्जन भी होता है जो कि स्वतः अनेक लौकिक प्रयोजनों का साधक है। इसलिये जो लोग परमात्मा की पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करते वे अपने आत्मीय गुणों से परान्मुख और अपने आत्म लाभ से वंचित रहते हैं। अरहंत प्रभु के पूज्य गुणों के स्मरण से हमारा चित्त पवित्र होता है, हमारी पापपरिणति छूटती है। अनादि अविद्या ग्रसित संसारी

जीवों को अपने कल्याण का मार्ग सूझता है और अपने आत्म हित का साधन करने में प्रवृत्ति होती है। देखो मानतुंगाचार्य ने 'भक्तामर स्तोत्र' में कहा है :—

तवत्संस्तवेन भवरान्तति सन्निवद्धं, पापंक्षणात्क्षय मुपैतिशरीर भाजां।
आक्रान्त लोकमलि नील मशेषमाशु, सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वर मन्धकारम्।।

अर्थात्, हे प्रभु जिस प्रकार सूर्य की किरणों से रात्रि सम्बन्धी समस्त घोर अन्धकार शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आपके स्तवन से, भक्ति से अनेक भवों से बंधे हुये प्राणियों के पाप क्षणभर में नाश को प्राप्त हो जाते हैं। इसी तरह 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र' में श्री मद् कुमुदचन्द्राचार्य भी कहते हैं :—

हृदवर्तिनी त्वयि विभो शिथलीभवन्ति जन्तो, क्षणेन निविड़ा अपिकर्मबन्धाः
सद्योभुजंगम्मया इव मध्यभाग, मभ्यागते वनशिखण्डिनि चंदनस्य ॥

अर्थात्, जिस प्रकार चंदन के पेड़ों से लिपटे हुये सर्प मयूर की ध्वनि सुनकर भाग जाते हैं उसी प्रकार हे भगवान् जिस भक्त के हृदय में आप आ जाते हैं उसके तीव्र कर्मबन्ध भी शिथिल हो जाते हैं। और भी कहा है :—

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन, देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभाव मपास्य लोके, चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥

अर्थात, जो जीव अरहंत भक्ति से अपनी आत्म निधि की सुधि पाकर धातुभेदी के सदृश, ध्यानाग्नि के बल से इस समस्त कर्ममल को दूर कर देता है, उसमें आत्मा की वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतो भाव से विकसित हो जातीं हैं और तब यह आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर परमात्मदशा को प्राप्त हो जाता है :—
'आप्त परीक्षा' में भी समंतभद्राचार्य ने लिखा है कि :—

'श्रेयो मार्गस्य संसिद्धि प्रसादात्परमेष्ठिनः।'

अर्थात्, अरहंत भक्ति से मोक्ष मार्ग की सिद्धि होती है। देखो अरहंत भगवान की भक्ति से रावण ने तीर्थकर प्रकृति का बंध

किया। कैलाश पर्वत पर वाली मुनि पर जब रावण ने उपसर्ग करने की ठानी, तब वाली मुनि की ऋद्धि से वह प्रभावित हुआ और वहाँ पर उसने अपने हाथ की नश को वीणा का तार बनाकर बड़े उमंग से प्रभु भक्ति की। उसने प्रभु के प्रति सर्वस्व समर्पण का भाव बनाया, तल्लीन हो गया वह भक्ति में। उस भक्ति की तन्मयता में उसे शरीर की भी सुधबुध न रही। फल स्वरूप उस निष्कपट अर्हन्त भक्ति के प्रभाव से उस महापुरुष के शुद्ध और शुभ परिणाम जगा, जिससे तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो गया। इसी प्रकार मानतुंगाचार्य की भक्ति का प्रताप देखो कि ४८ ताले टूट गये। वादिराज मुनि की भक्ति देखो सारा कोढ़ क्षण भर में गायब हो गया। कवि धनंज्जय की भक्ति से सर्प का विष निर्विष हो गया, उसका वेहोश बालक मानों नींद से उठकर खेलने लगा। समंतभद्राचार्य की भक्ति से शिवलिंग टूट-२ कर खण्ड-२ हो गया और अष्टम तीर्थंकर चन्द्र प्रभु की प्रतिमा प्रगट हो गई। कहाँ तक कहा जावे अरहंत भक्ति से अंजन भी निरंजन बन गया। जो तीर्थंकर देव के समान ही वैभव और समृद्धि का अधिकारी होगा। प्रभु की भक्ति किसी वान्छा को लेकर नहीं करना चाहिये। निष्कपट निरीह होकर अरहंत देव की भक्ति करो। उनके ही उस गुणविकास में, उस केवल ज्ञान ज्योति के शुद्ध सच्चिदानंद प्रकाश में अपने उपयोग को बसाओ तो परम लाभ होगा।

हमने परमात्मा को न समझते हुये असलियत को भुला दिया है। परमात्मा तो स्वयं हमारे अन्दर है, अपने अन्दर से मिथ्यात्व अज्ञान असंयम के परदे हटा दें तो स्वयं में ही परमात्मा के दर्शन होंगे। सभी आत्माओं में समान रूप से ज्ञान मौजूद है जैसे सूर्य पर बादल छा जाने से अंधेरा छा जाता है उसी प्रकार कर्म रूपी मैल के कारण आत्मा का ज्ञान क्षीण पड़ा हुआ है।

वास्तव में परमात्मा का स्वरूप तो निराकार और निरंजन रूप है,

सत्य रूप है यह साकार रूप तो मानव की साधना का साधन है। जिस प्रकार बच्चे को शेर का ज्ञान कराने के लिये बिल्ली का भी फोटो दिखाते हैं तभी शेर के गुणों का उसे पता चलता है उसी प्रकार निरंजन परमात्मा को जानने के लिये परमात्मा के साकार रूप की उपासना है। मूर्तियों की ध्यान मुद्रा को देखकर हमें अपने आत्म स्वरूप की स्मृति होती है। भगवान की अष्ट द्रव्य से पूजन करना परिणामों की उज्जवलता का बड़ा कारण हैं। भाव पूजा मुख्य है, द्रव्य पूजा, भाव पूजा के लिये निमित्त साधक है। परमात्मा का ध्यान सर्व क्लेशों का हरने वाला होता है अतः हमें अपनी शक्त्यानुसार शुद्ध द्रव्य से यत्नाचार पूर्वक पूजन करना चाहिये और निरन्तर अरहंत भक्ति में ही अपना चित्त लगाने की भावना रखना चाहिये। जैसा कि अपन पढ़ते ही हैं—

"जिनेः भक्ति र्जिने भक्ति र्जिने भक्तिः सदाऽस्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसार वारणं मोक्ष कारणं ॥"

आचार्य भक्ति

तीर्थंकर प्रकृति के वंध की कारण भूत ११ वीं भावना का नाम है आचार्य भक्ति। इसी को गुरु भक्ति भी कहते हैं। जो रत्नत्रय की अधिकता से मुनि संघ के नेता हुये हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। आचार्य महाराज पंचाचार का (दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार) स्वयं पालन करते हैं और संघ के अन्य मुनियों से उनका पालन कराते हैं। योग्य विरागी व्यक्तियों को दीक्षा देते हैं एवं अपना दोष प्रगट करने वालों को प्रायश्चित देते हैं। वे सर्व के हित की इच्छा रखते हैं धर्मोपदेश देते हैं, और अपने स्वरूप की सावधानी रखा करते हैं। ये ३६ गुण के धारक होते हैं। अंतरंग वहिरंग के १२ तपों को करते हैं, क्षमादि १० लक्षण धर्मों का पालन करते हैं, पंचाचार पालते हैं, षटआवश्यक को नित्यप्रति करते हैं, और तीन गुप्तियों का पालन करते हैं, ऐसे आचार्य की भक्ति करना सो आचार्य भक्ति भावना है। आचार्य देव की भक्ति करना सुगम व सुफल है। आचार्य की भक्ति से चारित्र की शुद्धि होती है और परिणाम निर्मल होते हैं। देखो अरहत और सिद्ध देव की भक्ति तो उत्तम है ही, परन्तु वे हमें मिलते नहीं और कदाचित् मनुष्यों को मिलें भी, तो उनसे कुछ वातचीत तो नहीं हो सकती। प्रतिदिन तो उनका प्रसंग नहीं हो सकता। लेकिन अरहंत के लघुनंदन, आचार्यों का मिलना यहाँ हो सकता है और यदि आज-कल न मिलें कदाचित ऐसे आचार्य, तो उनके अन्तरंग फोटो स्वरूप उनके ग्रन्थ हैं, उनका ज्ञानवैराग्य उनमें झलकता है तो परोक्षरूप से ही उनके बचनों को, उनके ग्रन्थों में पढ़कर और गदगद होकर उनकी भक्ति करें। उनके द्वारा रचित उनके ग्रन्थों में कुन्दकुन्दाचार्य, समंतभद्राचार्य, विद्यानंदी आदि आचार्यों का आदर्श चरित्र देखें और उनकी तरह अपने में, उनकी भक्ति द्वारा गुणों का विकास करें। धन्य हैं वे पुरुष, जिनके वीतरागी गुरुओं के गुणों में अनुराग होता है।

आचार्य कैसा होना चाहिये ? जिससे कि हित की आशा हो सकती है। इस सम्बन्ध में प्रवचनसार में कहा है :—

समणं गणिं कुलड्ढं कुलरूव वयो विसिट्ठ मिट्ठदरं ।

अर्थात्, आचार्य महाराज समता के निधान (गुण निधान) होना चाहिये। अगर वे स्वयं रागी द्वेषी हों तो शिष्यका राग, द्वेष, मोह मिटाने में वे कैसे शरण भूत हो सकते हैं। अतः उनके अरि-मित्र में, महल-मशान में, प्रशंसा-निन्दा में समान बुद्धि होना चाहिये। आचार्य को निर्मोह और शुद्धाचारी होना आवश्यक है। उसे उत्तम कुल का भी होना चाहिये क्योंकि हीन कुल में, छोटे कुल में उत्पन्न होने वाले साधु में कोई तुच्छता की बात रह सकती है। दोष रहित उत्तम कुल, गुरू का होना चाहिये। उत्तम कुल के गुरू में गुण सम्पन्नता रहती है। उसे रूप विशिष्ट भी होना चाहिये, जिसके बाहरी रूप को देखकर, मुद्रा को देखकर अनुमान हो जाये कि इसका अन्तरंग भी बहुत पवित्र है। जिसके चलने का ढंग खोटा हो, मुद्रा भी कषायभाव झलकाने वाली हो ऐसे आचार्य का प्रभाव नहीं पड़ता। गुरु में वय की विशिष्टता भी होना चाहिये। न अत्यन्त छोटी बालकपन की अवस्था और हो न अत्यन्त वृद्धावस्था हो और न ही जवान अवस्था के विकार वाली अवस्था हो। क्योंकि छोटी अवस्था वाला गुणवान होने पर भी उसके लड़कपन की वृत्ति कभी उमड़ सकती है, वृद्धावस्था में परहित करने की क्षमता नहीं होती और जवानी का विकार न हो जिसमें, ऐसा विकार रहित गुरू शरण भूत है। और अंतिम गुण उसमें यह होना चाहिये कि साधुओं द्वारा इष्टतर हो, उसे सब साधु चाहें। निर्दोष चर्या वाला सबका प्यारा होना चाहिये। इसके लिये दो बातें होना आवश्यक है जिसके सदाचार हो, और दूसरों के हित की भावना हो, वही इष्टतर हो सकता है।

आचार्य परमेष्ठी वैसे तो गुणों की खान हैं परन्तु आचार्य के ८ महागुण हैं। आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, प्रकर्ता, अपायोपाय विदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्त्रावी और निर्यापक ये ८ महा-गुण आचार्य के हैं।

१-आचारवान :-आचार्यपरमेष्ठी आचारवान होते हैं। उनका उच्च आचार जगत में प्रसिद्ध होता है। पंचप्रकार के आचार को धारण करने वाले होने से आचारवान कहलाते हैं। वे ५ आचरण हैं दर्शनाचार-अर्थात् सम्यग्दर्शन का आचरण दर्शनाचार है। सर्व ज्ञवीत राग द्वारा कथित जीवादि ७ प्रयोजनभूत तत्वों में श्रृद्धान रूप परिणति का होना दर्शनाचार है। ज्ञानाचार—अर्थात् ज्ञान का आचरण करना। स्वपर तत्वों को निर्वाध आगम और आत्मानुभव से जानने रूप प्रवत्ति सो ज्ञानाचार है। चारित्रचार-चारित्र का यत्न करना। हिंसादिक ५ पापों के अभाव रूप परिणति सो चारित्राचार है। तपाचार-अंतरंग और वहिरंग १२ प्रकार के तपों में प्रवृत्ति सो तपाचार हैं यानि तप का यत्न करना सो तपाचार। तथा वीर्याचार— यानि अपनी शक्ति माफिक इन सब आचरणों में उत्साह वनाये रहना, परिषहादिक आने पर धीरता रूप प्रवृत्ति सो वीर्याचार है। इन ५ प्रकार के आचरणों को आचार्य महाराज स्वयं निर्दोप पालते हैं। यदि वे स्वय हीनाचारी हों तो अपने शिष्यों को शुद्ध आचरण नहीं करा सकते। अतः वे इन ५ आचारों को स्वयं भी दृढ़ता से पालन करते हैं और शिष्य जनों को भी पालन कराते हैं।

२-आधारवान :-वे ज्ञान के पुंज्ज होते हैं, उनका सुलझा हुआ ज्ञान वचनों के अगोचर है। उन्हें जिनेन्द्र प्ररूपित प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयो। का अच्छा ज्ञान होता है स्याद्वाद विद्या में उनकी निपुणता होती है तथा न्याय शास्त्रों का, प्रमाण नय निक्षेपों का व सिद्धान्त शास्त्रों का ज्ञान उनका सुलझा हुआ होता है और फिर स्वानुभव प्रत्यक्ष रूप से तत्वों का निर्णय उन आचार्य महाराज के होता है, यह है उनका आधारवान गुण। यदि वे श्रुत के आधार से रहित हों तो शिष्यों का संशय तथा एकान्त रूप हठ और मिथ्याचरण का निराकरण नहीं कर सकेंगे। रोग वेदना के काल में, घोर परिषहों के काल में तथा सन्यास मरण के अवसर में यदि शिष्य श्रृद्धान व चारित्र में शिथिल होता है तो वे बहुश्रुतगुरु उपदेश द्वारा उसे धर्मध्यान में लीन कर देते हैं। बहुश्रुत का आधारवान आचार्य ही शिष्य को कल्याण मार्ग पर लगाने में समर्थ होता है। अतः आचार्य परमेष्ठी आधारवान होते हैं।

३-व्यवहारवान :—जो व्यवहार का, प्रायश्चित सूत्रों का ज्ञाता होय सो व्यवहारवान है। जो साधु आचार्य होने योग्य हो, उसी को प्रायश्चित सूत्र पढ़ाता है अन्य को नहीं। तथा जो जिन आगम का ज्ञाता, महाधैर्यवान, प्रबलबुद्धि का धारक हो वही आचार्य प्रायश्चित देने के अधिकारी हैं। प्रायश्चित देते समय आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ध्यान रखते हैं तथा शिष्य का परिणाम, उत्साह, संहनन, दीक्षा का काल, शास्त्र ज्ञान व पुरुषार्थादिक को अच्छी तरह जानकर, रागद्वेष रहित होकर प्रायश्चित देते हैं। जो आचार्य इन व्यवहार की बातों को न जानें,शिष्य की योग्यता को न देखे तो इन गुणों के बिना जैसे मूढ़ वैद्य देश, काल, प्रकृति आदि के ज्ञान से रहित हो, रोगी का नाश करे वैसे ही आचार्य, शिष्य का नाश करता है अतः आचार्य को व्यवहारवान गुण से भी अलंकृत होना चाहिये।

४-प्रकर्ता :-संघ में रोगी, वृद्ध, अशक्त, बाल मुनियों की सेवा, टहल और वैयावृत्ति में तत्परता होना सो आचार्य का प्रकर्ता नाम का गुण है। वैसे संघ के अन्य मुनि तो वैय्यावृत्ति में युक्त रहते ही हैं परन्तु आचार्य भी अशक्त मुनिश्वरों के उठाने बैठाने में, शयन कराने में, मल मूत्र कफादिक तथा खून पीव आदिक धोने में, धर्मोपदेश देने में आदर पूर्वक भक्ति से वैयावृत्ति करते हैं उनकी सेवा को देखकर अन्य मुनि अपने को धिक्कारने लगते हैं और प्रमाद छोड़कर वैयावृत्त में उद्यमी हो जाते हैं। यदि आचार्य ही प्रमादी हो तो सम्पूर्ण संघ वात्सल्य रहित हो जाये और मोक्ष मार्ग में बाधा पड़े। अतः आचार्य प्रकर्ता गुण से सम्पन्न होते हैं।

५-अपायोपाय विदर्शी :-अपाय कहते हैं नाश को। साधु संघ में कोई साधू क्षुधा, तृषा रोग वेदना से पीड़ित होने पर संक्लेश परिणाम रूप हो जाये या तीव्र रागद्वेष रूप हो जाये या लज्जा भय आदि के कारण यथावत् आलोचना नहीं करे या रत्नत्रय में उत्साह रहित हो जाये तो उसको रत्नत्रय के नाश के दोष और उपाय माने रत्नत्रय की रक्षा के गुण अपने उपदेश की सामर्थ्य से ऐसा दिखावे कि वह शिष्य रत्नत्रय में दृढ़ हो जाये। इस प्रकार सामर्थ्य वाला

आचार्य अपायोपायविदर्शी नामक गुण का धारी कहलाता है। यानि शिष्य जनों को किस प्रवृत्ति में, किस क्षेत्र में लाभ है और किस में उनका विनाश है, ऐसे आय और उपाय के दर्शी होते हैं आचार्य परमेष्ठी।

६-**अवपीड़क**:—कोई शिष्य आचार्य से अपनी आलोचना करते हुये अपने दोष निवेदन करता हो और कोई सूक्ष्म गहरा दोष-ऐब छिपा जाये तो आचार्य परमेष्ठी का इतना प्रताप होता है कि वे शिष्य दोषों को छिपा नहीं सकते और खुद ही अपने मुँह से अपने दोष बखान जाते हैं। जैसे सिंह को देखते ही स्याल मुख में खाये हुये माँस को तत्काल उगल देता है या जैसे महान प्रचण्ड तेजस्वी राजा के सामने, अपराधी अपने अपराध को सत्य कह देता है, उसी प्रकार आचार्य के प्रताप से शिष्य अपनी मायाशल्य को निकाल देता है। न निकाले अपने दोष को तो शिष्य को कठोर वचन कहकर भी आचार्य मायचारादि का अभाव करता है। जिस प्रकार भी शिष्य का उपकार हो, उस प्रकार करता है। यह प्रेम की बात है, कोई शासन की बात नहीं हैं। आचार्य परमेष्ठी में उन साधुओं के प्रति इतना अद्भुत मोक्ष मार्ग का प्रेम है कि वे साधुजन दोषों को छिपा नहीं सकते और वे आचार्य दोषों को निकाल डालते हैं ऐसा उनमें अवपीड़न गुण हैं। जैसे कोई बच्चा किसी वस्तु को मुख में डाले हो और वह गले में अड़ जाये तो माता उसके मुख से गले में हाथ डालकर उस वस्तु को निकाल लेती है, यह माता का अद्भुत प्रेम है। यों ही शिष्यों की आत्मा में कोई ऐब छुपाने की दृष्टि जगी हो तो आचार्य देव उस दोष को ठहरने नहीं देते। सोच लो कितने प्रेम और परम करुणा का भाव है उनके। तो प्रतापवान होना, प्रभाववान होना, परिषह आने पर कायर न होना, उज्जवल कीर्ति की विख्यातता, वचन की प्रमाणिकता, सिंह की तरह निर्भयता, आदि बातों का होना अवपीड़क गुण है।

७-**अपरिस्त्रावी**:—आचार्य का आत्मा बहुत गम्भीर है। आचार्य से शिष्य जन न जाने अपनी क्या-२ गुप्त बातें, दोष कह जाते